नासिख़

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ – रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ईसवी
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

नासिख़

लेखक

शबीहुल हसन

अनुवादक

जानकीप्रसाद शर्मा

साहित्य अकादेमी

Nasikh : Hindi translation by Janaki Prasad Sharma of Shabihul Hasan's monograph in Urdu. Sahitya Akademi, New Delhi (1992), Rs. 15.

प्रथम संस्करण १९९२

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, ३५ फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१

विक्रय विभाग : 'स्वाति', मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवनतारा बिल्डिंग, २३ ए/४४ एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता ७०० ०५३
१७२, मुम्बई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई ४०० ०१४
३०४-३०५, अन्ना सलाई, तेनामपेठ, मद्रास ६०० ०१८
१०९, जे. सी. मार्ग, बंगलौर ५६० ००२

मूल्य : पंद्रह रुपये

ISBN 81-7201-269-1

लेजर सैटिंग : मैरिट आर्ट्स, नयी दिल्ली ११० ०२८
मुद्रक : सुपर प्रिंटर्स, दिल्ली ११० ०५१

क्रम

भूमिका

उर्दू भाषा भारत की उस सुंदर समन्वित संस्कृति की यादगार है जिसे महान ऐतिहासिक शक्तियों ने लम्बे समय तक सत्ता में रहने के बाद पारस्परिक सहयोग और भाईचारे की बुनियाद पर विकसित एवं प्रतिष्ठित किया था। संस्कृति और इतिहास की ये शक्तियाँ भारतीय भी थीं और अभारतीय भी। यह उर्वर संस्कृति और इसके परिणामस्वरूप पैदा होने वाली उर्दू भाषा ऐसे समय में अस्तित्व में आयी जबकि अभारतीय प्रवृत्तियाँ भी स्थायी रूप से भारतीय बन चुकी थीं। जिस मेल-मिलाप ने इस भाषा को जन्म दिया उसने आरम्भ से ही इसे भारतीय मिज़ाज भी प्रदान किया। इसलिए उर्दू विदेशी प्रवृत्तियों से युक्त होने के बावजूद प्रकृति एवं स्वभाव, वतन और आबो-हवा की दृष्टि से एक भारतीय भाषा है। उत्तर भारत में इसके विकास के चिह्न तेरहवीं शताब्दी के ठीक आरम्भ में दिखाई देते हैं। लेकिन इससे काफ़ी पहले सिंध और पंजाब में इसको जन्म देने वाले तत्त्व एकत्र होने लगे थे। अभी यह भाषा एक बोली से ज़्यादा हैसियत न रखती थी कि चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत के दक्षिणी प्रांतों में पहुँच गयी। उर्दू शीघ्र ही इस समूचे क्षेत्र में फैल गयी और व्यावसायिक काम-काज के अलावा साहित्यिक उद्देश्य के लिए भी इसका व्यवहार किया जाने लगा और सतरहवीं शताब्दी के अंत तक इसमें ऐसा मूल्यवान साहित्य प्रकाश में आ गया जिसके बल पर दकनी उर्दू ने अपनी एक स्थायी हैसियत बना ली जबकि उत्तर भारत में अनेक कारणों से इसके विकास की गति धीमी रही। जन-साधारण के बीच इस भाषा का प्रचलन तो बढ़ा किंतु साहित्य-रचना के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। इसलिए कि यहां औरंगज़ेब के युग (१७०७ ई.) तक फ़ारसी का बोलबाला रहा। इस बीच यह भाषा निखरती रही और शक्ति प्राप्त करती रही। इस भाषा की दिनप्रति बढ़ती हुई सुंदरता एवं लोकप्रियता का रहस्य यह था कि इसने हर संस्कृति से उसके श्रेष्ठतम तत्त्वों को ग्रहण कर आत्मसात् कर लिया तथा विदेशी और स्थानीय भाषाओं की शब्द-सम्पदा से मनभावन और अनूठे शब्दों को अपने भीतर समेट लिया। यह भाषा अपनी आंतरिक संप्रेषण-क्षमता और प्रयोग की सहजता के कारण भारत में ही नहीं, बाहर के अनेक देशों में अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने में सफल हुई। शुरू से ही ऐतिहासिक एवं बौद्धिक कारणों से इस भाषा का उत्कर्ष ही इस रूप में हुआ कि इसने क्षेत्रीयता की सीमाओं

को कभी स्वीकार नहीं किया। उत्तर भारत इसका असली वतन और केंद्र रहा लेकिन भारत के दूसरे भागों में भी वहाँ की क्षेत्रीय भाषाओं के साथ-साथ् इसका चलन दिन-ब-दिन बढ़ता गया।

सतरहवीं शताब्दी के समापन तक यह भाषा दिल्ली और इसके आस-पड़ोस में फैलकर साहित्य-सृजन की क्षमता पैदा कर चुकी थी और दूसरी ओर फ़ारसी की गिरफ़्त भी काफ़ी कमजोर पड़ चुकी थी। जिसके परिणामस्वरूप अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में इस भाषा में इतने विपुल साहित्य की सृष्टि हो गयी कि लगता था कि मानो इसने भारी छलांग लगा ली हो । इस युग में दिल्ली और इसके इर्द-गिर्द के क्षेत्रों में इतने शायर और लेखक पैदा हुए कि जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से अपने सृजन के स्थायी महत्व को स्वीकार करा लिया। इसके साथ ही साथ इस भाषा के साहित्यिक और सामाजिक भविष्य को सुरक्षित बना दिया। यह स्वाभाविक है कि इस भाषा को परिमार्जित करने और नया मिज़ाज देने के आरंभिक प्रयास दिल्ली में ही किये गये। इस युग में उर्दू के क्षेत्र में भाषा-निर्माण एवं साहित्य-सृजन का श्रेय जिन रचनाकारों को जाता है उनमें सबसे पहला नाम वली दकनी का है जिनसे समूचा उत्तर भारत लाभान्वित हुआ। फिर हातिम, मज़हर जान जानाँ, सौदा, मीर तक़ी और ख़्वाजा मीर दर्द हुए जिनकी उर्दू भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में युग-प्रवर्त्तक एवं उच्चकोटि के कलाकार के रूप में प्रतिष्ठा है।

अठारहवीं शताब्दी के लगभग मध्य में राजनीतिक और ऐतिहासिक कारणों से लखनऊ में धीरे-धीरे उर्दू का एक नया केन्द्र अस्तित्व में आ गया। यहाँ उर्दू भाषा को एक नये शासन और नये सांस्कृतिक वातावरण में विकसित होने का अवसर मिला। जिसके परिणामस्वरूप नये वातावरण और परिवेश के अनुसार इस भाषा में सुधार की आवश्यकता महसूस हुई। लखनऊ में उर्दू को नये साँचे में ढालने मे रचनात्मक प्रयास किये गये जिससे इस भाषा में नयी आभा, नयी स्फूर्ति और नयी अर्थवत्ता उत्पन्न हुई। इसका श्रेय अनेक रचनाकारों को जाता है जिनमें मीर हसन, मीर खलीक़, इंशा और मुसहफ़ी आदि शामिल हैं। किंतु भाषा सम्बन्धी सुधार-कार्यो को एक निश्चित और सर्वमान्य दिशा प्रदान करने व आखिरी तराश-ख़राश के बाद उर्दू को एक समर्थ भाषा बनाने का काम जिन कलाकारों द्वारा सम्भव हुआ, नासिख़ उनके मार्गदर्शक थे। इसीलिए वे अपने युग के महत्त्वपूर्ण साहित्यकार और भाषा-सुधारक के रूप में स्वीकार किये गये।

पहला अध्याय

(१)

अवध में शुजा उद्दौला के शासन (१७५४ से १७७५ ई.) का अंतिम दौर था। अभी लखनऊ का साहित्यिक केन्द्र पूरी तरह स्थापित नहीं हुआ था लेकिन वे परिस्थितियाँ जन्म लेने लगीं थीं जो शीघ्र ही एक आधुनिक साहित्य-केन्द्र की स्थापना का स्पष्ट संकेत दे रही थीं जिसे उर्दू भाषा एवं साहित्य के इतिहास में एक असाधारण महत्ता प्राप्त होने वाली थी। इसी समय एक ऐसे बालक का जन्म हुआ जिसने बाद में 'नासिख़' का प्रतीकात्मक उपनाम स्वीकार किया, भाषा एवं शे'र के सुधार में बड़ा यश प्राप्त किया और लखनऊ की साहित्यिक शैली का निर्माण करने वाले कलाकारों का मार्गदर्शक बन गया। सही जन्म-तिथि किसी वृत्तांतकार ने नहीं लिखी है लेकिन उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार नासिख़ का जन्म ७, मुहर्रम, ११८६ हिजरी तदनुसार १५ अप्रैल १७७२ ईसवी को हुआ। यह अनुमान नासिख़ के शागिर्द 'रश्क' की कही हुई तारीख के आधार पर किया गया है।[१] इमाम बख़्श नाम रखा गया।[२] उनके पिता का नाम शेख़ खुदा बख़्श था। यह ज्ञात नहीं कि उनका असली वतन कहाँ था और नस्ली सिलसिला कहाँ पहुँचता है। पहले वे लाहौर में रहते थे। बाद में फ़ैज़ाबाद आ गये और फिर अवध के ही होके रह गये। यहीं नासिख़ का जन्म हुआ। खुदा बख़्श धंधे से व्यापारी थे। खेमों का कारोबार करते थे। कुछ लोगों का कहना है कि फुटकर माल बेचने का काम करते थे और एक बिसातखाने के मालिक थे। सम्भव है कि इन सब कामों से उनका सम्बन्ध रहा हो। उनके हैसियतदार और धनदान होने के साक्ष्य मिलते हैं। खुदा बख़्श का निधन वृहस्पतिवार २४ दिसंबर, १८०१ ई. को लखनऊ में हुआ। नासिख़ की माँ के

१. मुहर्रम की ७ तारीख़ की पुष्टि नासिख़ के एक मिसरे से होती है, 'कि है मेरा तवल्लुद हफ़्तम माह मुहर्रम का', जो उनके पहले दीवान में मौजूद है।

२. यह क़त्आ तारीख़ दूसरे भाग में मिलता है।

कारोबार जमाने और व्यवस्थित होने में इस परिवार को किन परिस्थितियों से गुज़रना पड़ा। कहा जाता कि कोई करीम बख़्श नामी बिसाती था, उसने नासिख़ का पालन-पोषण किया। लेकिन पिता की मौजूदगी में करीम बख़्श ने नासिख़ की परवरिश क्यों की, इस प्रश्न का कोइ उत्तर नहीं मिलता। कहा गया है कि फ़ैजाबाद में कोई नवाब मुहम्मद तक़ी नामी थे। उन्हें बांके-तिरछे रखने का शौक़ था। वही नासिख़ और 'आतिश' को लखनऊ लाये। यह भी कहा जता है कि लखनऊ के कोई रईस मीर काज़िम अली थे उन्होंने नासिख़ को बेटा बना लिया था । वे मरे तो वसीयत के अनुसार नासिख़ को उनकी सम्पत्ति मिल गयी। (गुल-ए-राना बज़मन नासिख़) लेकिन ये तमाम बातें फ़िलहाल अनुमान और अफ़वाहों से ज़्यादा हैसियत नहीं खातीं। नासिख़ की आरंभिक परिस्थितियों की ज़्यादा जानकारी इसलिए भी नहीं है कि उस युग में इनके परिवार की कोई विशेष मान-प्रतिष्ठा नहीं थी। अधिकांश वृत्तांतकारों के मतानुसार उनका बचपन लखनऊ में बीता। लखनऊ में ही उनकी अभिरुचियों और संभावनाओं के विकास के नये द्वार खुले। वे व्यापार का काम शुरू से ही करते आये थे। यह पेशा उन्होंने बाद में छोड़ दिया लेकिन इससे मिली हुई आदतें बाद तक उनके स्वभाव में बनी रहीं। व्यापारी अपनी दुकान सजाना और ग्राहकों की रुचियों के अनुसार सामान मुहैया कराना खूब जानता है। नासिख़ जब बड़े शायर और भाषा-सुधारक मान लिये गये तो वे जाने या अनजाने इस बात के प्रति अतिरिक्त रूप से सचेत रहने लगे। अपनी साहित्यक दुकान सजाने में अपने युग के दूसरे शायरों की तुलना में वे ज़्यादा दिलचस्पी लेते दिखाई देते हैं। उनके यहाँ मज़हबी विश्वासों की अभिव्यक्ति में सम्मान का भाव भी शायद इसी सजावट के कारण था। वे यह बात भली-भांति जानते थे कि लखनऊ के साहित्यिक बाज़ार में कौन-सा सिक्का ज़्यादा चल सकता है। वे टकसाल नामक मुहल्ले में रहते थे। सामाजिक अपेक्षाओं और आग्रहों के अनुसार जीवन भर साहित्यिक सिक्के ढालते रहे। बाज़ार की अच्छी समझ रखने के कारण दूसरों की तुलना में उनका सिक्का ज़्यादा चलता रहा। उस दौर में लखनऊ अनेक नगरीय और बौद्धिक क्रिया कलापों का केन्द्र था। इसके साथ ही साथ पहलवानों और बांकों का गढ़ भी था। लखनऊ के बांकों ने इसी युग में एक समुदाय के रूप में अपनी अलग पहचान बना ली थी। दूसरी ओर सैन्य-कला, व्यायाम, शरीर सौष्ठव और पहलवानी की जगह-जगह चर्चा थी। कोई मुहल्ला शायद ही ऐसा रहा हो जिसमें अखाड़ा न हो और मल्ल विद्या की

शिक्षा देने वाले नामवर उस्ताद मौजूद न हों। नासिख़ को भी धीरे-धीरे पहलवानी और शरीर सौष्ठव का शौक़ होने लगा। उन्होंने शारीरिक अभ्यास शुरू कर दिया और कुश्ती लड़ने लगे। थोड़े ही समय में उनकी देह निखर आयी और उन्होंने शिक्षा भी पूरी कर ली। उनके इस समय के हुलिए का वर्णन यों किया जाता है - 'स्याह रंग, मज़बूत गठा हुआ बदन, सिर मुँडा हुआ, दाढ़ी ख़शख़शी, स्थूलकाय थे। ज़्यादातर खारवे की लुंगी और कुर्ता पहनते थे। जाड़ा हुआ तो दोहरा कुर्ता पहन लिया।' व्यापार की भांति पहलवानी का सिलसिला भी धीरे-धीरे ख़त्म-सा हो गया। लेकिन व्यायाम और दंड-मुगदर आदि का अभ्यास जीवन भर जारी रहा। वे पिछले पहर से ही व्यायाम शुरू कर देते थे और 'या ग़फ़ूर' शब्द की अंक-गणना के अनुसार १२९७ दंड लगाते थे और फिर घी में तरबतर बेसनी पराठे खाते थे। बाद में उनकी कला और शायरी पर पहलवानी और व्यायाम के प्रभाव को और उनके इस शौक़ की गहराई को बिना किसी कठिनाई के महसूस किया जा सकता है। उन्होंने अखाड़े से तो सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। अवध की राजनीति में भी बनोट और बाँक के सारे दाव-पेच दिखाते रहते थे। इसके अतिरिक्त इस युग में सब ओर शे'रो-शायरी की चर्चा थी और मुशायरों का भारी हंगामा था। लखनऊ का समूचा वातावरण इन हंगामों में गूँज रहा था। मुशायरों की कोई सीमा न थी, लखनऊ के जिस गली-कूचे में निकल जाते होंगे, शे'रों-शायरी की दिलचस्प और कभी-कभी शांति भंग करने वाली गोष्ठियाँ उन्हें देखने को मिल जाती होंगी। निश्चय ही पहले वे शे'रो-शायरी के केवल तमाशबीन रहे होंगे। यह नहीं मालूम कि उनके भीतर छुपे हुए कलाकार ने कब अंगड़ाई ली और कब उन्होंने इस कला को इस प्रकार आत्मसात किया कि सारे शौक़ छूट गये। शादी-विवाह और आल-औलाद की भी चिंता न की और सदैव शायरी के लिए ही समर्पित रहे। मुसहफ़ी (निधन १८२४ ई.) कहते हैं कि उन्होंने बीस वर्ष की उम्र में शायरी शुरू कर दी थी। (रियाजल फ़स्हाए) यह ज़िक्र हो चुका है कि उनकी आरंभिक शिक्षा-दीक्षा का कोई समुचित प्रबंध नहीं किया गया था। जब उन्होंने अपने भीतर के शायर को उभरते हुए महसूय किया होगा तभी उन्हें अपनी शिक्षा की कमी भी अखरी होगी। उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ होगा कि विलम्ब से ही सही वे इतनी शिक्षा अवश्य प्राप्त करलें कि अज्ञानी न कहलायें और आसानी के साथ शे'रगोई का शौक़ पूरा कर लें। यही शौक़ उन्हें फ़िरंगी महल ले गया होगा जहाँ हाफ़िज़ वारिस अली के मदरसे का एक खण्ड था।

उन्होंने इसी खण्ड का चुनाव किया और हाफ़िज़ साहब से कुछ द्वितीय स्तर की पुस्तकें पढ़ी। प्रायः इनमें अरबी के अलावा फ़ारसी साहित्य भी सम्मिलित था। सम्भव है कि उन्होंने फ़िरंगी महल के दूसरे विद्वानों से शिक्षा प्राप्त की हो। बहरहाल उन्हें अरबी और फ़ारसी में मध्यम कोटि की दक्षता प्राप्त हो गयी। तदुपरांत वे जीवन भर निजी स्तर पर और लखनऊ के दूसरे मनीषियों की अनौपचारिक सहायता से अपने ज्ञान में निरंतर वृद्धि करते रहे। नासिख़ ने जिनसे सीखा उनमें 'क़तील' जैसे नामवर फ़ारसी दाँ भी शामिल थे। उनके उस्तादों में हाफ़िज़ वारिस अली और मिर्ज़ा मुग़ल के अलावा और किसी का नाम ज्ञात नहीं। न ही नासिख़ ने इनके अलावा किसी को अपना उस्ताद बताया है। हाफ़िज़ वारिस अली से उनके सम्बन्ध बराबर बने रहे और उनके कुल्लियात में एक क़त्आ तारीख़ मौजूद है जो उन्होंने हाफ़िज़ साहब के यहाँ बेटे के जन्म पर कहा था। इसी क़त्ए में उन्हें अपना उस्ताद भी कहा है। इस क़त्आ का संबंध १८०१-२ ई. से है। उनके कुल्लियात में ऐसे अनेक तारीख़ी क़त्आ हैं जिन्हें उन्होंने मिर्ज़ा मुग़ल के निधन पर लिखा था और एक क़त्आ में मिर्ज़ा मुग़ल को अपना उस्ताााद भी बताया है। क़त्ओं के अंतर्साक्ष्य से मिर्ज़ा मुगल के न तो शायर होने का पता चलता है और न ही विद्वान होने का। हाँ, एक क़त्आ में उन्हें 'रुस्तम-ए-वक़्त' कहा गया है। इससे यह अनुमान होता है कि हो सकता है पहलवानी में उनके उस्ताद रहे हों। वैसे तो नासिख़ के कुल्लियात में अनेक मिर्ज़ा मुग़ल ऐसे हैं जिनके निधन पर उन्होंने तारीख़ कही है। दरअसल इस युग में बहुत-से लोग मिर्ज़ा मुग़ल के नाम से प्रसिद्ध थे और इनमें से कई शायर भी थे लेकिन इनमें से कोई भी नासिख़ का उस्ताद न था। इसलिए कि सबकी मृत्यु-तिथि उन मिर्ज़ा मुग़ल से भिन्न है जिनका निधन १८१८ ई. में हुआ और नासिख़ ने जिन्हें अपना उस्ताद बताया है। जितना उन्होंने पढ़ा और फिर अपने निजी प्रयत्नों से जो कुछ सीखा उसको देखते हुए उन्हें फ़ारसी की अच्छे स्तर की जानकारी थी और उनका अरबी ज्ञान की मध्यम कोटि का कहा जा सकता है। काव्य-शास्त्र पर उन्हें असाधारण अधिकार था। यद्यपि उन्होंने धर्मशास्त्र, ज्योतिष, नक्षत्र-विज्ञान, दर्शन, हिकमत और हदीस की विधिवत शिक्षा प्राप्त नहीं की थी फिर भी विद्वानों के सत्संग से उन्होंने इन विषयों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वे भाषा-शास्त्र और शब्द-कोश की समस्याओं से भी बख़ूबी परिचित थे और आयु के अंतिम दिनों में तो वे सचमुच में ज़बान के उस्ताद माने जाने लगे थे। उनके बहुश्रुत और बहुज्ञ

होने के सबसे विश्वसनीय प्रमाण स्वयं उनकी रचनाएं हैं। इस प्रकार 'आब-ए-हयात' में आज़ाद का यह कथन बहुत युक्तियुक्त है, "यद्यपि अरबी का उन्हें चूडांत ज्ञान नहीं था किंतु साहित्यिक परिवेश और विद्वानों के सान्निध्य के कारण शायरी की कला के तक़ाज़ों का उन्हें अच्छा ज्ञान था।"

(२)

यह महज़ एक अनुमान है कि उन्होंने बीस वर्ष की अवस्था में शे'र कहना शुरू कर दिया था। किंतु उनके कुल्लियात में अमीरुद्दौला हैदर बेग की मृत्यु पर लिखा एक तारीख़ी क़त्आ उपलब्ध है जिससे १७९१-९२ ई. (१२०६ हिजरी) तिथि प्राप्त होती है। यदि यह क़त्आ उन्होंने घटना के ठीक बाद ही लिखा था तो शायरी की शुरुआत कुछ पहले हो चुकी होगी। इसलिए कि एक नवोदित शायर को इतिहास की घटनाओं पर शे'र कहने के लिए अभ्यास और अनुभव अपेक्षित है। वैसे तो उनके कुल्लियात में 'सौदा' के निधन पर कहा गया क़त्आ भी मौजूद है। उस समय उनकी अवस्था नौ वर्ष की ही रही होगी। इस कारण कई विद्वान भ्रांति के शिकार हो गये और उन्होंने नासिख़ की आयु का ग़लत अनुमान कर लिया। वस्तुस्थिति यह है कि 'सौदा' की मृत्यु से सम्बंधित क़त्आ उन्होंने बाद में लिखा होगा। क्योंकि स्वयं नासिख़ के कथनानुसार 'सौदा' की मृत्यु उनके शायरी शुरू करने से पूर्व हो चुकी थी। उनके पहले दीवान में यह शे'र मौजूद है :

पहले अपने अहद से अफ़सोस 'सौदा' उठ गया
किस से 'नासिख़ इस ग़ज़ल की जाके लें अब दाद हम

उन्होंने शायरी जब भी शुरू की हो, न तो उनका कोई हाल पूछने वाला था और न ही लेखन-कर्म को लेकर उन्हें किसी प्रकार का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। यह स्वाभाविक है कि इस साहित्यिक अनाथ ने थोड़ी-बहुत शायरी करने के बाद यह सोचा होगा कि रिवाज के मुताबिक़ किसी उस्ताद को अपना कलाम दिखायें। उस समय 'मीर' की बड़ी ख्याति थी। उनकी उस्तादी सर्वमान्य थी। एक दिन चुपके से उनके पास पहुंच गये और कलाम पर इस्लाह (संशोधन) लेने और शागिर्द बनने की इच्छा व्यक्त की। मगर जाहिर है कि 'मीर' इस समय तक बूढ़े हो चुके थे और लखनऊ की शायरी में उभरते हुए नये रंगों से उन्हें खिन्नता होती थी। यों भी वे

किसी को अपना शागिर्द कम ही बनाते थे। कारण जो भी रहा हो, उन्होंने साफ़ इन्कार कर दिया। नासिख़ निराश तो हुए लकिन इस घटना ने उनके भीतर एक नया उत्साह और आत्मविश्वास पैदा कर दिया। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब वे किसी की शागिर्दी अख़्तियार नहीं करेंगे और अपने कलाम पर स्वयं परिश्रम करेंगे और स्वयं ही संशोधन-परिवर्तन करेंगे। वस्तुस्थिति तो यही है लेकिन कई वृत्तांत-कारों और विशेष रूप से उनके आलोचकों ने उनके उस्ताद की हैसियत से बहुत-से शायरों का नाम लिया है जिनमें मुसहफ़ी, मुहम्मद ईसा, तनहा और अकरम शामिल हैं। यह प्रसंग इसलिए उठाया जाता था कि अपने उस्ताद के प्रति अकृतज्ञ और अश्रद्धालु होने का आरोप उन पर लगाया जा सके। लेकिन ऐसा कोई भी विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता है जिसके आधार पर यह सिद्ध हो सके कि उन्होंने किसी उस्ताद की शागिर्दी स्वीकार की थी। सच बात तो यह है कि लखनऊ का हर मुशायरा, हर साहित्यिक दायरा, बड़े-बड़े कला-मर्मज्ञ और यशस्वी शायरों के यहां होने वाली हर गोष्ठी उनके लिए उस्ताद का काम देती थी। अतएव स्वयं ही कहते हैं :

कौन सी तर्ज़-ए-सुख़न है जो उसे आई नहीं
क्यों न हो शागिर्द है 'नासिख़' हर इक उस्ताद का

यह सुविदित है कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही लखनऊ में मुशायरों का ज़ोर बहुत बढ़ गया था। ये मुशायरे शायरों को कठोर परीक्षा-स्थल की भाँति हुआ करते थे। मुशायरे के बीच में आपत्तियाँ और प्रश्नोत्तर मामूली-सी बातें थीं और किसी मुशायरे से सम्मान के साथ ग़ज़ल पढ़कर लौटना शुक्र की बात समझी जाती थी। मुशायरों के अलावा भी शहर में शायरों के बीच चोटें चला करती थीं। अमीरों के दरबार भी शायरों की नोंक-झोंक के केन्द्र हुआ करते थे। इनका बड़ा आधिक्य था। नासिख़ मुशायरों में शिरकत के लिए अक्सर जाते थे। एक श्रोता के रूप में नहीं बल्कि एक सीखने और समझने के लिए उन्होंने बड़े महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक साहित्यिक वाद-विवादों को अपनी आँखों से देखा था। इस नोंक-झोंक से उन्होंने काव्य-कला की बारीकियाँ सीखीं और शे'रो-शायरी की दुरूह समस्याओं से परिचय प्राप्त किया। शे'र कहते थे मगर मुशायरों में पढ़ते नहीं थे। नये ज्ञान की सहायता से बार-बार और निरंतर अपने शे'रों में संशोधन-परिवर्तन करते रहते थे। अपने समकालीनों की शायरी पर उस्तादों से बहस भी कर लिया करते थे। संयोग से उन्हें परिवेश भी अच्छा मिला। जब वे तमाशाई के रूप में मुशायरों में जाते थे उस समय

नयी पीढ़ी के सशक्त रचनाकारों से लेकर बड़े-बड़े उस्ताद तक मुशायरों की शोभा बढ़ाते थे जिनके कारण लखनऊ के साहित्यिक वातावरण में हलचल और गर्मी रहती थी। इंशा, मुसहफ़ी, मुंतज़र, गर्म, तालिब अली ऐशी, जुरअत, क़तील, मुहम्मद सादिक़, अख़्तर, तनहा और इसी तरह के न जाने कितने ग़ज़लगो थे कि जब मुशायरों में बैठते थे तो कविता की आकाशगंगा उदित हो जाती थी। इसके अतिरिक्त इस युग के अनेक प्रतिष्ठित अमीर लोग स्वयं शे'र भी कहते और शायरों को आश्रय भी प्रदान करते थे। उनकी कला का सम्मान करते थे। उनमें सुलेमान शिकोह (जिनके यहाँ नासिख़ का जाना-आना नहीं था), मुहम्मद तक़ी हवस, मुहम्मद तक़ी 'तरक़्क़ी', मिर्ज़ा हाजी 'क़मर' ज़्यादा मशहूर रहे हैं। नासिख़ ने एक जागरूक विद्यार्थी के रूप में इस समूचे वातावरण से पूरा-पूरा लाभ उठाया। इसके साथ-साथ शायरों की नोंक-झोंक के साहित्यिक महत्त्व को अपनी स्मृति में सुरक्षित रखते गये। फिर भी बहुत दिनों तक वे मुशायरों में ग़ज़ल पढ़ने का साहस नहीं जुटा पाये। जब लखनऊ के साहित्यिक वातावरण में गर्मी की कुछ कमी हुई और साहित्यिक वाद-विवाद ठंडे पड़ने लगे, मुख्य वादी या तो नहीं रहे या मौन हो गये तब नासिख़ खुलकर प्रकाश में आये। कहते हैं :

> "जब ज़माना सारे वरक़ उलट चुका और मैदान साफ़ हो गया तो मैंने ग़ज़ल पढ़नी शुरू की। उस मौक़े पर मिर्ज़ा हाजी साहब, मिर्ज़ा क़तील और क़ाज़ी मुहम्मद सादिक़ अख़्तर ने बड़ी क़द्रदानी की और उनके दिल बढ़ाने से कलाम ने रोज़-ब-रोज़ रंग पकड़ना शुरू किया। लोगों के दिलों में यहाँ तक शौक़ पैदा हुआ कि चौग़ज़ला कहकर शे'र पढ़ता था फिर भी आरज़ूमंद रह जाते थे।"
>
> – 'आब-ए-हयात' : नासिख़ का बयान

इस प्रकार वे शायरी के मैदान में देर से उतरे, शायद १८०५-६ ई. में। लेकिन जल्द ही छा गये और धाक जमा दी। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उन्हें किसी मुशायरे में या साहित्यिक बहस में कभी नीचा देखना पड़ा हो। यों तो ऐसा कौन शायर है जिस पर आक्षेप न लगाये गये हों। ऊपर जिन शायरों का ज़िक्र हो चुका है, वे ऐसे युग में हुए हैं जब लखनऊ में रेख़्ते की दीवार उठ रही थी और सभी कलाकार जाने या अनजाने अदबी लखनऊ के निर्माण में व्यस्त थे। नासिख़ भी उसी समुदाय में सम्मिलित हो गये। बाद में अपनी सूझ-बूझ के कारण वे इस

आन्दोलन के मार्गदर्शक बल्कि डिक्टेटर बन गये। नासिख़ ने उस मंज़िल से और आगे एक कदम बढ़ाया, जो आधुनिकतापसंद शायरों ने अब तक तय की थी। इसलिए हर ओर से उनका उत्साहवर्द्धन स्वाभाविक था। नासिख़ देर से शायरी के मैदान में उतरे लेकिन शीघ्र ही ख्याति प्राप्त कर ली और देखते ही देखते उस्तादी की मसनद पर विराजमान हो गये और इस प्रकार अब तक जो विलम्ब हुआ उसकी अच्छी क्षतिपूर्ति हो गयी। वे अल्पायु में तो नहीं मगर जितने अल्प समय में उस्तादों की कोटि में पहुँच गये, उर्दू साहित्य के इतिहास में इसकी मिसालें कम ही मिलती हैं। कुछ ऐसे संयोग और ऐतिहासिक कारण रहे जिन्होंने न सिर्फ़ उन्हें उस्तादी के मर्तबे पर पहुँचा दिया बल्कि एक श्रेष्ठ कोटि का सर्जनात्मक व्यक्तित्व प्रदान किया। उनकी शैली का प्रभाव अब भी किसी न किसी रूप में बाक़ी है। शायरी में नये रंग और नयी धारा के प्रवर्तन के बहुत-से कारण नासिख़ से जुड़े हुए हैं। वे लखनऊ की ख़ालिस पैदावार थे। वंश या उस्तादों से सम्बन्ध की दृष्टि से उनकी शायरी का सिलसिला दिल्ली तक नहीं पहुँचता था। इसलिए दिल्ली की शैली के लिए उनकी शायरी में कोई जगह नहीं थी। उन्होंने लम्बे समय तक भाषा-शिल्प को माँझने का अभ्यास किया और साहित्य की समस्याओं पर चिंतन किया। अनुसरण की बात उनके सोच में ही नही थी इसलिए कि किसी के शार्गिद न थे, स्वतंत्र थे। आर्थिक स्थिति अच्छी थी इसलिए वयोवृद्ध और अभावग्रस्त शायरों व कलाकारों को अपने पास जमा किये रहते थे। उनके स्वाभिमान और मानवीय-प्रतिष्ठा का ध्यान रखते हुए उन्हें हर प्रकार की सहायता करते थे। परिणमस्वसरूप उन अज्ञात और विस्मृत कलाकारों ने भाषा-शैली से सम्बंधित अपने जीवन भर के रचनात्मक अनुभव नासिख़ के सामने रख दिये। आज उनका कोई नाम भी नहीं जानता लेकिन नासिख़ का चिराग़ रोशन करने में उनके ख़ूने-जिगर ने काम दिया और उन्हें एक साधारण व्यक्ति से बड़ा शायर बनाने में न जाने कितने कलाकार विस्मृति के गर्त में खो गयें। इसके अतिरिक्त नासिख़ अपनी सामाजिक छवि बनाने में भी कभी उदासीन नहीं हुए। उनका कमाल यह था कि न वे कभी शाही दरबार का चक्कर लगाते थे, न अमीरों के दस्तरख़्वान पर हाज़िरी देते थे, न धनवानों की प्रशंसा करते थे बल्कि एक तरह से कम घुलने-मिलने वाले और अत्यधिक स्वाभिमानी व्यक्ति थे। फिर भी कुछ शायरी के निमित्त से और कुछ उस युग की राजनीति से अनायास जुड़ाव के कारण उनके सामाजिक सम्बन्धों का दायरा निरंतर बढ़ता गया। वे लखनऊ से वर्षों

निर्वासित रहे। उन्हें जो भी कष्ट पहुँचा हो लेकिन उन्हें अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने, अपने नये-नये प्रशंसक बनाने और उस आंदोलन को जिसके कि वे मार्गदर्शक थे, आगे बढ़ाने का अच्छा अवसर मिला। ये तमाम परिस्थितियाँ शायद ही किसी शायर के लिए एक साथ उपलब्ध हुई हों इस सबके बावजूद अभी इस चीज़ की कमी रह गई थी याने उनका ऐसा कोई प्रतिद्वंद्वी सामने नहीं आ सका था जो साहस के साथ उन्हें चुनौती दे सके। इस अभाव की पूर्ति 'आतिश' के फ़ैज़ाबाद से लखनऊ आ बसने से हो गई। नासिख़ और आतिश परस्पर कितने भी प्रतिद्वंद्वी रहे हों लेकिन लखनऊ में निजता की तलाश और वैचारिक दृढ़ता से सम्बंधित जो आंदोलन चल रहा था उसमें मत-भिन्नता के बावजूद दोनों में एक निकटता थी। उनका रास्ता एक ही था और उनकी मंज़िल भी साझा थी। इसलिए एक बड़े साहित्यांदोलन को सफलता की मंज़िल तक पहुँचाने और अंततोगत्वा लखनऊ को एक स्वतंत्र केन्द्र बनाने का श्रेय इन दोनों कलाकारों को ही जाता है। यह एक ऐतिहासिक कर्त्तव्य था कि उन्होंने इस काम को साझे तौर पर अंजाम दिया। यह एक सच्चाई है कि ये दोनों शायद ठीक उसी समय अवतरित हुए जबकि निर्णायक समस्याओं को सुलझाने के लिए उनकी आवश्यकता थी और प्रतीक्षा भी।

जब मुसहफ़ी अपने वृत्तांत 'रियाज़ुल फ़स्हाए' में उनका उल्लेख कर रहे थे और उनकी उम्र सेंतीस वर्ष लिख रहे थे तो नासिख़ अभी एक उभरते हुए और अपने ख़ास रंग को उभारते हुए शायर थे। यह बात लगभग १८०८-९ ई. की है। लेकिन जल्द ही याने १८१७-१८ ई. से पूर्व ही जबकि उन्होंने अपना पहला दीवान तैयार किया, वे उस्तादों की कोटि में पहुँच गये थे और शायरी में शीर्ष स्थान प्राप्त कर चुके थे। इस समय उनके पास शागिर्दों की ऐसी भीड़ जमा हो गई थी जिसमें समाज के हर वर्ग से लोग शामिल थे। इससे नासिख़ के प्रभाव और यश में दिन-ब-दिन वृद्धि होती गई। वे एक शायर के रूप में सफलता के उच्चतम शिखर पर ग़ाज़ी उद्दीन हैदर के युग १८१४-२९ ई. में पहुँचे। लेकिन अभी सआदत अली ख़ान जीवित थे (मृत्यु १८१४ ई.) और उनके भीतर उस्ताद बनने की ललक पैदा हो गई थी। अब तक उन्हें मिर्ज़ा हाजी क़मर प्रोत्साहित करते रहते थे। बाद में कुछ ऐसे राजनीतिक परिवर्तन हुए, जिनका ज़िक्र आगे आयेगा, कि बहुत से अमीर व शहज़ादे और मिर्ज़ा हाजी के कट्टर शत्रु और प्रतिद्वंद्वी मा'तमदुद्दौला आग़ा मीर जैसे लोगों का वरदहस्त भी नासिख़ पर रहा। इनमें से अधिकांश व्यक्ति ग़ाज़ी उद्दीन हैदर के

शासन-काल में मंत्री पद पर थे। १८१४ ई. से पूर्व ही उनकी स्थिति काफ़ी मज़बूत हो चुकी थी। उनको मुसहफ़ी और दीगर उस्तादों के समकक्ष रखा जाने लगा था। शे'रो-अदब की समस्याओं में उनकी रुचि बढ़ने लगी थी। इस बीच उन्होंने कुछ साहित्यिक बहसों में भी अपना पक्ष सही साबित करने में सफलता प्राप्त की और बड़े-बड़े उस्तादों के मुक़ाबिले में सुर्ख़रू हुए।[1]

(३)

अब तक नासिख़ एक सुख-शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे। पहले की तरह मिर्ज़ा हाजी से जुड़े हुए थे। लेकिन अब वह समय आ गया जब वे तनाव और शांति की मिली-जुली परिस्थितियों के शिकार हुए। इसका कारण कोई मामला या अपराध नहीं था बल्कि यह अवध के बदलते हुए राजनीतिक परिदृश्य का आवश्यक परिणाम था जिसमें नासिख़ किसी न किसी रूप में भागीदार हो गये थे। इस मौक़े पर तारीख़-ए-अदब, नज्मुलग़नी, क़ैसरुलतवारीख़, मीर मुहम्मद ज़ायर और मफ़ातीहउलरियासत[2] मुहम्मद रज़ा तबातबाई जैसे लोगों ने, जो कि अवध के इतिहास के महत्वपूर्ण स्रोत हैं, घटना-वृत्तांतों को इतना अधिक उलझा दिया है कि सही-सही स्थिति को खोज पाना बहुत मुश्किल हो गया है। जो घटनाएं अपेक्षाकृत सही और विश्वसनीय प्रतीत होती हैं, उनका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

हालात का यह उतार-चढ़ाव ग़ाज़ी उद्दीन हैदर के गद्दी पर बैठने के साथ शुरू हुआ। सआदत अली ख़ान के अंतिम युग में अर्थात् १२२९ हिजरी से पहले कुछ अमीर अवध के दरबार से जुड़ गये थे और उनका बोलबाला था। एक हकीम महदी थे जो अपनी प्रबंध सम्बन्धी क्षमताओं के लिए प्रसिद्ध थे और अवध की मालियतों के बहुत बड़े ठेकेदार थे। दूसरे मिर्ज़ा जाफ़र और उनके बेटे मिर्ज़ा हाजी क़मर जिनका सल्तनत के कामकाज में बड़ा हस्तक्षेप था, हालांकि औपचारिक रूप से वे किसी पद पर नहीं थे। लेकिन ग़ाज़ी उद्दीन हैदर की तख़्तनशीनी के बाद मिर्ज़ा जाफ़र या मिर्ज़ा हाजी के वज़ीर होने की पूरी संभावना थी इसलिए कि ये अवध के सुलतानों और अंग्रेजों दोनों के विश्वासपात्र थे। मिर्ज़ा जाफ़र और मिर्ज़ा हाजी दोनों ने ग़ाज़ी

---

१. विस्तार के लिए 'तज़्किरा ख़ुशमा'र्का ज़ेबा' का अध्ययन करना चाहिए।
२. रियासत की चाबी अर्थात् रियासत के काम-काज में केंद्रीय स्थिति रखने वाला।

उद्दीन के सत्तारूढ़ होने में भरपूर सहायता की थी और बड़ी वफ़ादारी के साथ अपनी सेवाएँ दी थीं। अब नवयुवक मिर्ज़ा हाजी क़मर के मन में वज़ारत की इच्छा जाग्रत होना स्वाभाविक था। ग़ाजी उद्दीन की तख़्तनशीनी के बाद कुछ महीनों तक इन्होंने वज़ीर पद का काम-काज देखा, अभी इन्हें औपचारिक रूप से मंसब नही मिला था किंतु व्यावहारिक रूप से वे वज़ीर पद के दायित्वों का निर्वाह कर रहे थे और आगे विधिवत् नियुक्ति की सम्भावना थी। इसी ज़माने में हकीम महदी भी वज़ारत की आस लगाये हुए थे लेकिन उन्होंने जब हालात का अंदाज कर लिया तो लखनऊ से बाहर निकल गये। परिस्थितियों ने ऐसा अप्रत्याशित मोड़ लिया कि १८१४ ई. में मा'तमद्दुद्दौला आग़ा-मीर को वज़ारत मिल गई जो कि लखनऊ की राजनीति में कोई ख़ास हैसियत नहीं रखते थे। मिर्ज़ा हाजी क़मर चुपचप घर में बैठ रहे। नासिख़ का आग़ा मीर से परिचय तो रहा होगा लेकिन कोई विशेष प्रगाढ़ता नहीं थी। वे मिर्ज़ा हाजी से उनके कष्ट के दिनों में भी जुड़े रहे। इसी बीच लगभग नौ माह के बाद एक बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि १८१५ ई. में आग़ा मीर से अचानक वज़ारत छीन ली गई और मिर्ज़ा हाजी का राजनीति में पुनरोदय हुआ। इस बार तो नासिख़ उनके अंतरंग और मुख्य परामर्शदाता ही बन गये थे और यह विश्वास हो गया था कि अब की बार उन्हें वज़ारत अवश्य ही मिलेगी। इस बीच हकीम महदी भी बड़ी दूरदर्शिता के साथ हाथ-पाँव मारते रहे और अपने लिए वज़ारत की युक्तियाँ खोजते रहे। इधर पद-मुक्त होने के बाद भी आगा मीर पुनः वज़ीर होने के लिए जोड़-तोड़ करते रहे। संयोग से बादशाह बेगम, जो ग़ाज़ी उद्दीन की मल्का थीं और दोनों में ताल-मेल नहीं था, अपनी अलग सेना लेकर बादशाही तरीक़े से रहती थीं, आग़ा मीर ने किसी तरह इन बादशाह बेगम की सिफ़ारिश प्राप्त कर ली और वह कारगर भी हुई। जिसके परिणामस्वरूप कुछ दिनों पद-मुक्त रहने के बाद आग़ा मीर १८१७ ई. में पुनः वज़ीर के आसन पर विराजमान हो गये और जब १८१९ ई. में अवध की नवाबी बादशाही में परिवर्तित हो गई तो नायबुलसल्तनत के बजाय उनका ओहदा वज़ीर आज़म का हो गया। इस बार जो आग़ा मीर वज़ीर हुए तो गाज़ी उद्दीन के पूरे शासन काल तक वज़ीर बने रहे। १८२९ ई. में जब ग़ाजी उद्दीन का निधन हुआ तो नसीरुद्दीन हैदर के युग में उनके संकट के दिन शुरू हुए। दोबारा वज़ीर होने के बाद आग़ा मीर ने मिर्ज़ा हाजी को तो घर में क़ैद कर दिया और धीरे-धीरे उनके आसपास आतंक का वातावरण बनाना शुरू कर दिया। इस ज़माने में आग़ा

मीर के तीन मुख्य शत्रु थे या जिन्हें वे अपना शत्रु समझते थे – हकीम महदी, मिर्ज़ा हाजी क़मर और जल्द ही उनके एक तीसरे शत्रु पैदा हो गये, वे थे मीर फ़ज़्ल अली जिनका सम्बंध दिल्ली से था और बहुत ही सुयोग्य प्रबंधक एवं क्षमतावान् व्यक्ति थे। यदि आज के सरकारी तंत्र से तुलना की जाय तो वे बादशाह बेगम के चीफ़ सेक्रेटरी थे और प्रायः वज़ारत से कम महत्त्व के पद पर नहीं थे। बदशाह बेगम की शान-शौकत ही ऐसी थी।

मीर फ़ज़्ल अली शुरू में आग़ा मीर के खिलाफ़ न थे लेकिन ऐसे कारण उत्पन्न हो गये कि दोनों के बीच कटुतापूर्ण सम्बंध बन गये। इन तीनों व्यक्तियों की विशेषता यह रही कि मिर्ज़ा हाजी तो प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण बाद में कोई मंसब न प्राप्त कर सके लेकिन मीर फ़ज़्ल और हकीम महदी दोनों ही ग़ाज़ी उद्दीन हैदर के बाद वज़ारत प्राप्त करने में सफल हो गये। आग़ा मीर ख़तरे को देखते हुए इन सबको लखनऊ से ख़ारिज कराना या क़ैद कराना या मौत के घाट उतारना चाहते थे। इनके खास-खास सम्बन्धी भी आग़ा मीर की नज़र में थे। उन सभी को आग़ा मीर द्वारा दी गई यातनाओं का शिकार होना पड़ा। ख़ुदा बख़्श और आफ़रीन अली ख़ान लखनऊ के अमीरों में से थे लेकिन आग़ा मीर के विरोधी थे। ये दोनों और इनके बहुत से परिजन आग़ा मीर के युग में शिकंजे में कसे गये इसी क्रम में नासिख़ भी आग़ा मीर के कोप-भाजन हुए। इसलिए कि वे अब भी हाजी मीर से निकटता रखते थे। इस युग में नासिख़ बड़े असमंजस में थे। वे हालात की नजाक़त को भी समझते थे, आग़ा मीर का मिज़ाज भी जानते थे और हर तरफ़ उन्होंने जो धर-पकड़ मचा रखी थी उसका शिकार होने वाले लोगों के दुःखद परिणाम से भी परिचित थे। दूसरे, नासिख़ एक ईमानदार और वफ़ादार व्यक्ति थे, उनमें आत्म-सम्मान की भावना भी बहुत थी। इसलिए मिर्ज़ा हाजी को अकेला छोड़ देना, वह भी उनके बुरे दिनों में, उनके लिए किसी भी तरह सम्भव नहीं था। बहरहाल वे मिर्ज़ा हाजी के यहाँ आते-जाते रहे। इसके साथ ही आग़ा मीर से इतनी निकटता स्थापित करने में प्रयत्नशील रहे कि वे सुरक्षित बने रहें। आग़ा मीर जब वज़ीर आज़म हुए तो जहाँ उन्होंने बादशाह होने पर ग़ाज़ी उद्दीन हैदर की शान में क़सीदा कहा वहीं आग़ा मीर की प्रशंसा में भी कुछ शे'र लिखे। मगर लगभग ये सब बाद के किस्से हैं। आग़ा मीर ने दोबारा वज़ारत का मंसब प्राप्त करने पर दूसरे लोगों की तरह नासिख़ को भी शिकंजे में कसना चाहा। अतएव लगभग १८१७-१८ ई. में ही

उन्होंने एक चोबदार उनको बुलाने के लिए उनके घर भेज दिया। नासिख़ अब तक एकांतवास ले चुके थे। चोबदार का आना ख़तरे की घंटी थी। उन्होंने चोबदार को बिठाया, आव-भगत की और कहा, 'तुम ठहरो, जब तक मैं पगड़ी बंधवाऊँ और सवारी का प्रबंध कर लूँ, अभी आता हूँ।' उसने कहा, 'तुम अपनी तैयारी करो, मैं कोतवाली जाकर तुम्हारे वास्ते सवारी लेकर आता हूँ।' उधर चोबदार रवाना हुआ और इधर ये एक चादर ओढ़कर ठीक दोपहर में आग़ा तवक्कुल के घर पहुँच गये और कहा, मुझे दो-तीन दिन के लिए छुपा लो तो मैं मौक़ा पाकर शहर से निकल जाऊँ। उन्होंने कहा नवाब (आग़ा मीर) का ज़ुल्म ज़ाहिर है। पता चल गया तो मेरा घर मुफ़्त में बर्बाद हो जायेगा। उन्होंने कहा तो फिर एक हज्जाम बुलवाओ। दाढ़ी-मूँछ मुँडवा कर जोगियों के वेश में निकल जाऊँ। आग़ा तवक्कुल ने कहा, अगर हज्जाम यह भेद खोल दे तो क्या होगा ? अब नासिख़ ने यह समझ लिया कि उनसे काम निकलना सम्भव नहीं लगता। अपनी निकटता बढ़ाने के लिए कहीं ये खुद ही ख़बर न कर दें। इस बीच में चौबदार वापस आया और नासिख़ को ग़ायब पाकर आग़ा मीर को जाकर खब़र की। आग़ा मीर ने मीर असद को आदेश दिया कि वह शेख़ साहब के घर जाकर बतला दें कि नासिख़ को तो क्षमा किया जाता है लेकिन जिसने उन्हें छुपाया होगा, उसकी ख़ैर नहीं। नासिख़ को जब यह सूचना मिली तो आग़ा तवक्कुल के यहाँ से उठकर सीधे मीर असद के घर पहुँचे। आग़ा तवक्कुल ने अपना लड़का साथ कर दिया था कि कहीं नासिख़ कहीं और न निकल जायें। मीर असद, आग़ा मीर के क़रीबी अज़ीज़ थे, शायरी करते थे, 'सब्र' उपनाम था और नासिख़ के शागिर्द थे। नासिख़ ने उनसे सम्बन्ध बनाना उचित समझा और यह लाभदायक सिद्ध भी हुआ। दोपहर के समय परेशानी की हालत में मीर असद की ड्योढ़ी पर पहुँचे और दरबान से कहा, जाके ख़बर कर दे, नासिख़ हाज़िर है। मीर असद नंगे सिर दौड़े हुए बाहर आये, सम्मान के साथ ले जाकर मसनद पर बिठाया और कहा कि आप इत्मीनान रखिये, मेरा सिर आपकी इज़्ज़त के साथ है। आग़ा मीर को जाकर सूचना दी। उन्होंने कहा, फ़िलहाल उसे घर में रखो। दूसरे दिन नासिख़ अपने घर वापस आ गये। लेकिन शायद उन्हें घर तक सीमित रहने का आदेश दिया गया और लखनऊ से बाहर जाने पर पाबंदी लगा दी। सम्भव है, आग़ा मीर ने उन्हें काम का आदमी समझा हो और मिर्ज़ा हाजी के आत्मीय होने के कारण ज़रूरी सूचनाएँ पाने का एक ज़रिया भी। इस घटना के बाद नासिख़ और भी समझ

गये कि भविष्य में क्या होने वाला है ? मिर्ज़ा हाजी के यहाँ उन्होंने अलानिया जाना छोड़ दिया लेकिन उनके प्रति हार्दिक सहानुभूति मन में बनी रही और समय-समय पर आग़ा मीर के आक्रोश को अपनी ओर से दूर करने के प्रयास किये। हकीम महदी भी इस बीच में हालात का जायज़ा लेने के लिए आते रहे। उन्हें कुछ अशुभ संकेत दिखाई देने लगे। सम्भव है कि आग़ा मीर उन्हें हिसाब-किताब के मामले में भर लें और कम से कम क़ैद तो करा ही देंगे। आग़ा मीर यही युक्तियाँ सोच रहे थे लेकिन हकीम महदी भी कुछ कम न थे। वे अवध से बाहर अंग्रेजों के बड़े कृपा-पात्र थे। उन्होंने ऐसा इंतजाम किया कि लखनऊ से बाहर निकल गये और आग़ा मीर हाथ मलते रह गये। हालांकि हकीम महदी, आग़ा मीर की युक्तियों को असफल कर के लखनऊ से बाहर निकल गये लेकिन मुसाहिबों ने महदी के निकलने को फ़रार साबित किया। इससे भी आग़ा मीर की शक्ति-सम्पन्नता की पुष्टि हुई। नासिख़ किसी तरह उनके समीप पहुँचने की कोशिश में थे। उन्होंने 'गुरेख़्ता' (भागा हुआ) शब्द से तारीख़ निकाली । १२३५ हिजरी तदनुसार १८१९ ई.। उन्होंने इसी रदीफ़ के साथ कुछ शे'र भी कहे जिनमें से एक शे'र तारीख़ों में मिल जाता है। मुहम्मद ख़ाँ क़व्वाल ने इन शे'रों को आग़ा मीर के सामने गाया और इनाम पाया :

काशू बराए पुख़्तन शलग़म गुरेख़्ता
रू ब सिफ़्त ज़हीबत ज़ीग़म गुरेख़्ता[1]

अनुमान है कि इस क़त्आ के कारण नासिख़, आग़ा मीर के कुछ न कुछ समीप अवश्य आये होंगे। लेकिन इसी वर्ष नासिख़ कुछ ज़्यादा ही परेशानियों में घिरे दिखाई देते हैं। इसी वर्ष वे नज़्ला और बुख़ार से पीड़ित रहे और शायद यह बीमारी दिनों तक बनी रही। स्वस्थ होने पर उन्होंने दो तारीख़ी क़त्आ कहे। इसी समय उनके चार पत्र चोरी हो गये। उनका विषय नहीं मालूम। हो सकता है इनका संबंध ऐसे किसी राजनीतिक षडयंत्र से हो जो कि उन दिनों आमतौर पर चलते रहते थे। उन्होंने इस पर भी दो तारीखी क़त्आ कहे और न सिर्फ़ दुःख व्यक्त किया बल्कि पत्र चुराने वाले को बहुत बद्दुआएँ दी। इसी वर्ष उनके साथ एक ऐसी घटना घटी जिसने उन्हें बहुत कष्ट पहुँचाया। इस घटना का भी सही-सही विवरण ज्ञात नहीं लेकिन तारीख़ी क़त्आ से पता चलता है कि यह कोई गंभीर घटना रही होगी। शे'रों

१. काश वह शलग़म की तरह पक कर डाली से पलायन करता। इंसान अपने-आपको कामयाब बनाने की कोशिश नहीं करता जिस तरह कि शलग़म ख़ुद पकने की कोशिश नहीं करता।

में वे कहते हैं कि खुदा का शुक्र है कि मैं क़ैद होने और क़त्ल होने से बच गया। गिरफ़्तारी और क़त्ल होने का प्रकरण सरकारी ही हो सकता है। यदि ऐसा है तो इसमें आग़ा मीर का हाथ साफ़-साफ़ दिखाई देता है। सम्भव है कि ये तीनों घटनाएँ एक ही वर्ष में एक साथ घटित हुई हों। इनमें आपसी सम्बन्ध हो यानी पत्रों का चोरी होना, चोबदार का घर पर आना और अंततः किसी न किसी तरह क़ैद और क़त्ल से बच जाना। घटनाएं चाहे एक दूसरे से जुड़ी हों या न जुड़ी हों, अनुमान यह होता है कि अभी तक आग़ा मीर और उनके बीच मधुर सम्बन्ध नहीं बने थे। हकीम महदी का लखनऊ से पलायन भी इसी वर्ष की घटना है। सम्भव है कि नासिख़ ने इन घटनाओं के बाद आग़ा मीर को प्रसन्न करने के लिए 'गुरेख़्ता' तारीख़ कही हो ताकि उनके प्राण बचे रहें।

हकीम महदी तो ख़ैर उनके हाथ से निकल गये लेकिन अभी मिर्ज़ा हाजी लखनऊ में मौजूद थे और घर में बंद रहते थे। इस हालत में भी लखनऊ में उनका अस्तित्व आग़ा मीर के लिए काँटे की तरह सालता था। वे ग़ाज़ी उद्दीन हैदर से बराबर उन्हें देस निकाला देने की इजाज़त मांगते रहते थे। लेकिन जवाब यही मिलता था कि रहने दो, घर में बैठा है, तुम्हारा क्या बिगड़ता है ? यहीं से धीरे-धीरे एक साज़िश उभरी जिसमें लगता है कि नासिख़ भी लिप्त थे। इसको लेकर दो बातें मिलती हैं। एक बात तो यह है कि मिर्ज़ा हाजी ने आग़ा मीर की हत्या का मंसूबा बनाया और एक ब्राह्मण या राजपूत को प्रलोभन देकर इस काम के लिए तैयार किया और यह तय किया गया कि आग़ा मीर लखनऊ की बारहदरी में एक शादी में जाने वाले हैं, वहीं उनकी हत्या कर दी जाये। मीर ग़ुलाम अली रिसालदार मिर्ज़ा हाजी के अभिन्न मित्रों में से थे। इस सारे काम को उन्हीं की खुफ़िया देख-रेख में अंजाम दिया जाना था। यह भी कहा जाता है कि राजपूत या ब्राह्मण के बजाय मीर ग़ुलाम अली को मिर्ज़ा हाजी ने यह काम सौंपा था। नासिख़ को किसी न किसी तरह इस भेद का पता चल गया और उन्होंने चुपचाप फ़क़ीर मुहम्मद ख़ाँ 'गोया' को यह सूचना दे दी, जो कि उस युग के मशहूर फ़ौजी सरदार, पुराने अमीर, आग़ा मीर के विश्वासपात्र और नासिख़ के अहम शागिर्दों में थे। आग़ा मीर इस शादी में शरीक हुए। वहाँ मीर ग़ुलाम अली रिसालादार भी हथियारबंद मौजूद थे। फ़क़ीर मुहम्मद ख़ाँ ने अनिष्ट से बचने के उपाय के तौर पर उससे हथियार तलब किये। उसने देने में ना-नुकर की तो फ़क़ीर मुहम्मद ने उसको तपंचा खींच मारा। मीर

गुलाम अली ने घायल होने के बावजूद उस पर तलवार का वार कर दिया जिससे उसका हाथ काफ़ी कट गया। गुल़ाम अली गिरफ्तार हुआ तो उसके बाजू पर दस हज़ार रुपये की महाजनी हुंडी तावीज़ के रूप में बंधी हुई थी, यह उसका पुरस्कार था। मामला बादशाह के सामने पेश हुआ। हुंडी दस्तावेज़ी प्रमाण के रूप में दिखाई गई। साज़िश का आरोप मिर्ज़ा हाजी पर लगा। गुल़ाम अली को आजीवन कारावास हुआ जिसमें उसकी मृत्यु हो गयी और मिर्ज़ा हाजी को शहर बदर करने का हुक्म हुआ। लेकिन शायद कुछ समय बाद।

इस घटना का एक दूसरा संस्करण इस रूप में प्राप्त होता है कि यह सब खेल और नाटक आग़ा मीर का रचा हुआ था। एक तंगहाल सिपाही को आर्थिक प्रलोभन देकर रात को बारहदरी बुलाया गया जहाँ आग़ा मीर मौजूद थे। उनके सब दरबारी घेरा बनाये हथियार बंद खड़े हुए थे और चौकन्ना थे। इस सिपाही के आते ही पहले से नियुक्त व्यक्ति ने कहा, नवाब को तलवार मारो। वह तलवार मारना ही चाहता था कि लोग झपट पड़े और मार-मार कर उसका कचूमर निकाल दिया। जब वह अधमरा आग़ा मीर के सामने लाया गया तो उसने कहा, मुझसे दग़ा की गई और मर गया। उसके बाजू से एक फ़र्ज़ी हुंडी महाजनी खोलकर यह प्रचारित किया गया कि यह इनामी वायदे की हुंडी है और सारी साज़िश मिर्ज़ा हाजी की है। कई लोगों ने यह लिखा है कि इस कागज़ में कुछ न था, सिर्फ़ मिठाई का हिसाब दर्ज था। इस प्रपंच की वास्तविकता सबके सामने खुल गई। लेकिन आग़ा मीर के भय से कोई उफ़ न कर सकता था। मुक़दमा बादशाह के यहाँ पेश हुआ। यह सरासर झूठी गवाही का मामला था। क्योंकि नासिख, मिर्ज़ा हाजी के नज़दीकी लोगों में रह चुके थे इसलिए उन्हें एक विश्वसनीय गवाह माना गया। नासिख़ बड़ी दुविधा में पड़ गये। वे गवाही के लिए तो गये लेकिन पूछ-ताछ होने पर जवाब शायराना तरीक़े से किया अर्थात् मिर्ज़ा हाजी के इस साज़िश में शामिल होने की पुष्टि नहीं की। मीर गुलाम अली ने साफ़-साफ़ कह दिया कि यह सब जालसाज़ी है। लेकिन आग़ा मीर, ग़ाज़ी उद्दीन हैदर को इस तरह विश्वास दिला चुके थे कि नासिख़ को तो घर जाने की अनुमति मिल गई मगर मीर गुलाम अली को कारावास में जान से हाथ धोना पड़ा। बहरहाल मिर्ज़ा हाजी को शहर से निर्वासित होने का हुक्म मिला और वे अपने परिवारजनों के साथ, अपनी तमाम सम्पत्ति छोड़कर बहुत बुरी हालत में शहर से बाहर निकल गये। जिसने उन्हें देखा, उस की आँखों मे आँसू छलछला उठे। इस

स्थिति में उनके छोटे भाई मिर्ज़ा मुहसिन ने 'हाय ग़रीबी' शब्दों से तारीख़ निकाली जिससे १८२२-२३ ई. (१२३८ हिजरी) प्राप्त होती है। नासिख़ ने भी एक क़त्आ तारीख़ कहा जो कुल्लियात में मौजूद है और इससे गहरी सहानुभूति प्रकट होती है।

घटनाओं में वास्तविकता का अंश जो भी हो, इनके विभिन्न पहलुओं पर काफ़ी बहस की जा सकती है। इनमें फ़क़ीर मुहम्मद ख़ाँ के हाथ के घायल होने का ज़िक्र भी आता है, जिसकी तारीख़ नासिख़ के कुल्लियात में मौजूद है, लेकिन वह इस घटना की संदिग्ध तिथि से मेल नहीं खाती। घटनाओं के तिथि-क्रम और वर्णन में काफ़ी उलझनें मौजूद हैं। इतना निश्चित है कि नासिख़ इसमें किसी न किसी रूप में लिप्त अवश्य थे और उन्होंने कुछ ऐसी चतुराई से काम लिया कि आग़ा मीर ज़्यादा नाखुश नहीं हुए होंगे या यदि उन्होंने चुपके से ख़बर पहुँचा दी होगी तो बहुत प्रसन्न हुए होंगे। अपनी जान भी उन्होंने बचाई और मामले को इतना गम्भीर नहीं होने दिया कि मिर्ज़ा हाजी की जान पर बन आती। वे सिर्फ़ शहरबदर हुए और इन हालात में होना ही था।

अब यों समझना चाहिए कि आग़ा मीर के पहलू से दो काँटे निकल गये, पहले हकीम महदी और फिर मिर्ज़ा हाजी। अब तीसरा काँटा याने मीर फ़ज़्ल अली का निकलना बाक़ी था। इसमें भी नासिख़ का हस्तक्षेप नज़र आता है हुआ यह कि बादशाह की कृपा से आग़ा मीर को दोबारा वज़ारत मिल गई थी। लेकिन उनके और बादशाह बेगम के बीच मतभेद पैदा हो गये और उन्होंने नाना प्रकार से बादशाह बेगम को परेशान करना शुरू कर दिया। यह भी एक साज़िश का मामला था जिसमें आग़ा मीर ने नासिख़ को अगुआ बनाया था। जिसके कारण कुछ समय तक तो नासिख़ पर आग़ा मीर की बड़ी कृपा-दृष्टि बनी रही और अच्छे दिन गुज़रे। लेकिन आगे चलकर इसी कारण से नासिख़ पर देस निकाले की मुसीबत आई और वे वर्षों तक इसी समस्या से जूझते रहे।

बात यह हुई कि आग़ा मीर, बदशाह बेगम के कारण वज़ीर तो बन गये लेकिन यह खटका ज़रूर बना रहा कि यही बादशाह बेगम किसी दिन उनके पतन का कारण भी बन सकती हैं। बदशाह बेगम और ग़ाज़ी उद्दीन में वैसे भी अनुकूलता नहीं थी। आगा मीर ने यह प्रयास किया कि दोनों के मतभेद और अंतर्विरोधों को इतना अधिक बढ़ा दिया जाय कि इसका कोई उपचार ही न हो सके। वे अपने इस प्रयास में सफल भी हुए। उन्होंने बादशाह बेगम को विवश कर दिया। बादशाह बेगम

के यहाँ शाही ख़ानदान के विशिष्ट बच्चों का पालन-पोषण होता था। इनमें एक तो नसीरुद्दीन हैदर थे जो ग़ाज़ी उद्दीन हैदर के बेटे और अवध के भावी बादशाह होने वाले थे। बादशाह बेगम उनकी सौतेली माँ थीं। लेकिन सगी माँ की तरह उनका ध्यान रखती थीं। दूसरे मुहसिन उद्दौला जो ग़ाज़ी उद्दीन हैदर के धेवता थे और बाद में अवध के बादशाह होने वाले मुहम्मद अली शाह के दामाद भी हुए। बादशाह बेगम के साथ रहने के कारण शाही खानदान और राज-काज में इन बच्चों की हैसियत का बढ़ जाना स्वाभाविक था। उनके मुख्य सलाहकार मीर फ़ज़्ल अली में प्रबंध-व्यवस्था बनाये रखने और दबदबा क़ायम करने की बेहतरीन क्षमताएँ थीं। आग़ा मीर ने बहला-फुसला कर विभिन्न युक्तियों से नसीरुद्दीन हैदर को बादशाह बेगम के यहां से पहले ही निकलवा लिया। अब प्रश्न रहा मुहसिन उद्दौला का। यह बड़ा काम नासिख़ को सोंपा गया। नासिख़ के एक मित्र आखून अनवर, मुहसिन उद्दौला के उस्ताद थे। नासिख़ ने उन्हें अपने साथ मिला लिया। उन्होंने मुहसिन उद्दौला को तरह-तरह की बातें समझाकर इस बात का अहसास करा दिया कि यदि वे बादशाह बेगम और मीर फ़ज़्ल अली के कठोर नियंत्रण से मुक्त होकर स्वयं ग़ाज़ी उद्दीन हैदर से सीधा सम्बन्ध स्थापित करें तो उनका जीवन अधिक सुखी एवं स्वतंत्र होगा। अनवर अली ने मुहसिन उद्दौला को सब्ज़ बाग़ दिखा दिये। बातों में आकर अंततः मुहसिन उद्दौला ने बादशाह के पास एक अर्ज़ी भेज दी। यहाँ कोई बाधा नहीं थी, अर्जी मंजूर हो गई। आग़ा मीर पहले से ही तैयार बैठे थे। उन्होंने स्थानांतरित करा दिया। बादशाह बेगम इससे बहुत रुष्ट हुई और मीर फ़ज़्ल अली जो कि रियासत व सियासत के एक से एक बारीक नुक्तों को जानते थे, हाथ मलते रह गये। वे नासिख़ से भी बहुत नाराज़ हुए और अब तक उनके और आग़ा मीर के बीच जो कटुतापूर्ण संबंध थे वे जग-जाहिर हो गये। आपसी वैमनस्य के तुच्छ रूप सामने आ गये। आग़ा मीर ने इन शाहज़ादों को इसलिए अलग-थलग कराया था कि इसके बाद मीर फ़ज़्ल का पत्ता साफ़ करना आसान हो जायेगा। अतः १८२२-२३ ई. (१२३८ हिजरी) में ही मिर्ज़ा हाजी निकाले गये और मीर फ़ज़्ल अली भी लखनऊ से बाहर किये गये और मौलवी अनवार अली भी कहीं हाथी पर जा रहे थे कि रास्ते में उनकी हत्या कर दी गई। इन निरंतर घटनाओं के कारण विशेष रूप से मिर्ज़ा हाजी के लखनऊ से विदा होने के बाद नासिख़ अब निस्संकोच भाव से आग़ा मीर के साथ हो गये। इतना निश्चित है कि अपने स्वाभिमान के कारण दरबारदारी

नहीं करते थे। मुसाहिबों के समूह में शामिल नहीं हुए। दरबारी वेश-भूषा और हाज़िरी से अपने-आपको बचाये रखा। लेकिन जुड़े उनसे ही रहे। आग़ा मीर कुछ शायरी भी कर लेते थे। अतएव नासिख़ के शार्गिद हो गये। उनकी सौ रुपये मासिक वृत्ति भी निश्चित कर दी गई। नासिख़ ने भी सनअत तौशीह[1] में तिरेसठ शे'रों का एक ज़ोरदार क़सीदा आग़ा मीर की प्रशंसा में लिख दिया, वह मुद्रित कुल्लियात में तो नहीं है लेकिन उनकी हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में मिल जाता है। इसी क़सीदे से अभिभूत होकर आग़ा मीर ने उन्हें सवा लाख रुपये का इनाम दिया जो उन्होंने अपने मित्र मिर्ज़ाई साहब के यहाँ रखवा दिया। चोरों को जब इस धनराशि का सुराग़ मिला तो उन्होंने नासिख़ के घर में नक़ब भी लगाई और निराश लौटे। नासिख अब आग़ा मीर के अलावा मुहसिन उद्दौला जैसे महत्त्वपूर्ण अमीर का मन जीतने में भी सफल हो गये। यह सम्बन्ध बुरे दिनों में उनके बहुत काम आये। उन्होंने मुहसिन उद्दौला के लिए बहुत-से प्रशंसात्मक कत्आ कहे और जब वे लगभग पाँच वर्ष तक लखनऊ से बाहर रहे तो बराबर मुहसिन उद्दौला (निधन १८७७ ई. की प्रशंसा में कत्आ लिखकर भेजते रहे। मुहसिन उद्दौला की बदौलत वे लखनऊ से अपने निर्वासन को तो न रोक सके लेकिन वे अपने समर्थकों का अच्छा-खासा वर्ग लखनऊ में छोड़ गये जिनके कारण उन्हें कम कष्ट उठाने पड़े और अवसर मिलने पर लखनऊ आने में भी विशेष कठिनाई नहीं हुई।

(४)

नासिख़ ने लखनऊ में छः-सात वर्ष बड़ी निश्चिंतता और शांति के साथ बिताये। १८२१ से १८२७ ई. तक कोई ऐसी उल्लेखनीय घटना नहीं घटी। ग़ाज़ी उद्दीन हैदर की बादशाहत थी और आग़ा मीर की 'हातिम' से भी कहीं बढ़कर उदारता। आग़ा मीर भी निश्चिंत थे कि एक-एक कर उनके सभी शत्रु लखनऊ से बाहर कर दिये गये। बड़े-बड़े कलाकार और पुरानी व बीच की पीढ़ी के अधिकांश शायर संसार से विदा हो चुके थे। सांस्कृतिक एवं साहित्यिक दृष्टि से लखनऊ की निजी और विशिष्ट पहचान स्थापित हो चुकी थी। नासिख़ आर्थिक दृष्टि से भी

१. एक अलंकार जिसमें कुछ शे'र या मिसरों के पहले अक्षरों से किसी का नाम निकलता है अथवा अक्षरों की अंक-गणना करने पर कोई तिथि निकलती है।

बहुत सम्पन्न थे। उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को देखकर लोग ईर्ष्या करते थे। भाषा और शे'र की समस्याओं पर उनके फ़ैसले बिना किसी टीका-टिप्पणी के सर्वमान्य हुआ करते थे। स्वयं उनकी शायरी भी लोकप्रियता की दृष्टि से परमात्कर्ष पर थी। यह उनके जीवन का सफलताओं भरा स्वर्ण युग था। लेकिन ये सात वर्ष पलक झपकते बीत गये। लेकिन अब राजनीति की नयी चालों ने उन्हें उनके पक्षधरों सहित जान लेवा हालात में डाल दिया। दर असल नासिख़ के संघर्ष के दिन अब शुरू हुए जिनकी कहानी बड़ी लम्बी है और दुःखद भी।

अक्टूबर १८२७ ई. ग़ाजी उद्दीन हैदर का निधन हुआ और नसीरुदीन हैदर हुकूमत के तख़्त पर बैठे। नयी हुकूमत के आने पर जो परिवर्तन हुए उनका असर बाद के दस वर्षो तक बना रहा। आग़ा मीर और नासिख़ दोनों के लिए ग़ाजी उद्दीन हैदर की मृत्यु एक दुःखद घटना थी। नासिख़ ने एक पंक्ति से तारीख़ निकाली :

ए बसा आरज़ू कि ख़ाक शुदा[1]

इस मिसरे से १८२७ ई. (१२४३ हिजरी) तिथि प्राप्त हुई। यह महज़ शायरी न थी बलिक उन्हें और उनके संरक्षक आग़ा मीर के लिए कटु और भीषण वास्तविकता थी। इस मिसरे के बीच में जो भी मौजूद है, इसका अनुमान आसानी से हो जाता है और बाद की घटनाओं से बाक़ायदा इसकी पुष्टि भी होती है। नसीरुद्दीन हैदर जब शाहज़ादे थे, तभी से आग़ा मीर की शिकायत करते रहते थे। आम धारणा भी यही थी और स्वयं आग़ा मीर का भी यह विश्वास था कि अब उनका वज़ारत के मंसब पर बने रहना सम्भव था कि अब उनका वज़ारत के मंसब पर बने रहना सम्भव नहीं। उन्होंने नसीरुद्दीन हैदर से स्वेच्छा से पद-मुक्त होने की इजाज़त भी मांगी। लेकिन उनकी प्रत्याशा के विरुद्ध नसीरुद्दीन हैदर ने ऐसी आत्मीयता दिखाई कि वे आश्चर्यचकित रह गये और फिर बिल्कुल निश्चिंत और उदासीन हो गये। पुराने उत्साह और रौब-दाब के साथ वज़ीर के दायित्व का निर्वाह करने लगे। इधर नसीरुद्दीन हैदर का उद्देश्य उन्हें सिर्फ़ झूठे सपने दिखाना था। उन्होंने शीघ्र ही गुप्त रूप से उनकी सेवाएं समाप्त करने के प्रबंध कर लिये और रेज़ीडेंट की मार्फ़त हर बात पूरी तरह तय कर ली और मीर फ़ज़्ल अली (वही बादशाह बेगम के मुख्य सलाहकार, नासिख़ के दुश्मन और आग़ा मीर के निकलवाये हुए) को वज़ीर आज़म बनाने के लिए लखनऊ बुलाया गया। आग़ा मीर के गुप्तचरों ने लखनऊ में उनके आने और गुप्त रूप से बादशाह बेगम के यहाँ

१. जो हमारी आरज़ुएँ थीं, ख़ाक में मिल गईं।

ठहरने की सूचना से उन्हें अवगत करा दिया। इस खबर से आग़ा मीर के कान खड़े हो गये लेकिन नसीरुद्दीन हैदर ने फिर मिथ्या स्नेह जताकर उन्हें संतुष्ट कर दिया। अभी नसीरुद्दीन को तख़्त पर बैठे तीन महीने भी न गुज़रे थे कि जनवरी १८२८ ई. के शुरू में एक दिन रेज़ीडेंट ने आग़ा मीर को तलब किया और सेवाएं समाप्त होने की सूचना दी और बताया कि अब आप गिरफ़्तार हैं। यह निर्णय हुआ कि वे पहरे में अपने घर जा सकते हैं और अगले आदेश तक घर में कैद रहेंगे। यह दूसरा आदेश भी कई वर्ष बाद मिला और आग़ा मीर को मिर्ज़ा हाजी की तरह लम्बे समय तक घर में कैद रहना पड़ा। आग़ा मीर को बर्खास्त करने के बाद ही मीर फ़ज़्ल अली को वज़ारत का मंसब प्राप्त हुआ और ऐतमादुद्दौला का ख़िताब मिला । मीर फज़्ल अली को नवाब मुहसिन उद्दौला के मामले में नासिख़ से बड़ी चिढ़ थी। इसके अलावा अब वे आग़ा मीर के खास चहेतों में से थे। फलस्वरूप नासिख़ भी घर में कैद कर दिये गये। उन्होंने इस अवसर पर दो फ़ारसी तारीखें कहीं। एक में अपने ऊपर हुए असीम अत्याचारों और घर में बन्दी होने की चर्चा है। दूसरे में यह बताया गया है जब मैं घर में क़ैद किया गया तो एक बुज़ुर्ग ने मुझे एक भेड़िए से मुक्ति दिलाई। दोनों ही तारीख़ें १८२८ ई. (१२४३ हिजरी) की हैं अर्थात् इसी वर्ष वे कैद भी हुए और कैद से छूटे भी। यह गुर्ग (भेड़िया) तो मीर फ़ज़्ल अली के अलावा कोई और हो नहीं सकता। मुक्ति दिलाने वाले बुज़ुर्ग, अनुमान यह है कि मुहसिन उद्दौला या फ़क़ीर मुहम्मद ख़ाँ 'गोया हों। रिहाई के बाद चाहे नासिख़ ने स्वयं लखनऊ से निकलने का फ़ैसला किया हो, या इसी शर्त पर उन्हें क्षमा किया गया हो। उनके लखनऊ छोड़ने की तिथि ज्ञात नहीं लेकिन १८२८ ई. में वे लखनऊ से बाहर दिखाई देते हैं। इसका अनुमान उनके तारीख़ी क़त्ओं से होता है जो इसी वर्ष उन्होंने इलाहाबाद में लिखे थे और जो उनके प्रकाशित कुल्लियात में मौजूद हैं। यह अनुमान होता है कि वे जनवरी के अंत या फ़रवरी के आरम्भ में लखनऊ से विदा हुए होंगे। उनके संरक्षक आग़ा मीर अभी लखनऊ में ही थे। वे चलते समय उनसे भेंट भी न कर सके होंगे। इस प्रकार निश्चित रूप से उनका पहली बार लखनऊ से निकलना मीर फ़ज़्ल अली के कारण हुआ। मीर फ़ज़्ल अली अधिक समय तक वज़ीर न रह सके। अभी उनकी सेवाएं समाप्त नहीं हुईं थीं कि १३ अप्रैल, १८३० ई. को उनकी मृत्यु हो गई। इसके बाद छः-सात माह तक लखनऊ में औपचारिक रूप से किसी वज़ीर की नियुक्ति नहीं की गई। नासिख़ को अपने निर्वासन-काल में मीर फ़ज़्ल अली की मृत्यु एक शुभ-संकेत प्रतीत हुई होगी। वे लखनऊ

आने का साहस जुटा रहे होंगे। उनके पास लखनऊ से तुरंत सूचनाएँ प्राप्त करने का इंतजाम था। लेकिन शायद वे लखनऊ इसलिए नहीं आये कि मीर फ़ज़्ल अली के निधन के बाद भी उनके (नासिख़) के संरक्षक आग़ा मीर अभी घर में बंदी का जीवन बिता रहे थे। न उन्हें लखनऊ से बाहर जाने की अनुमति थी, न घर से बाहर निकलने की। इन परिस्थितियों में उन्होंने प्रतीक्षा करना श्रेयस्कर समझा। लेकिन इस बीच परिस्थितियों ने एक निराशाजनक मोड़ लिया और छः-सात माह के बाद ही नसीरुद्दीन हैदर ने हकीम महदी को बुलाकर ४ नवम्बर, १८३० ई. (१७ जमादी उल सानिया[1], १२४६ हिजरी) को वज़ारत सौंप दी। यह वही हकीम महदी हैं, जिनका उल्लेख किया जा चुका है। जो आग़ा मीर के कट्टर विरोधी थे और नासिख़ जिनका उपहास कर चुके थे। यह खबर नासिख़ पर बिजली बनकर गिरी होगी और लखनऊ जाने की सब उम्मीदें खाक में मिल गई होंगी। इसलिए कि हकीम महदी, नासिख़ के लिए अदावत में मीर फ़ज़्ल अली से कुछ बढ़कर ही थे। जिस ज़माने में मीर फ़ज़्ल अली वज़ीर हुए थे, उस समय भी हकीम महदी वज़ीर बनने के लिए प्रयत्नशील थे। बल्कि एक प्रकार से मीर फ़ज़्ल उनके एजेण्ट और पैरोकार की हैसियत से लखनऊ पहुँचे थे, लेकिन वे खुद ही वज़ीर हो गये। हकीम महदी भी इस दौरान लखनऊ पहुँचे। अपने अनुकूल परिस्थितियाँ न पाकर लखनऊ छोड़ गये। नासिख़ इस समय लखनऊ से बाहर थे। फिर भी वे शायरी में उनका उपहास करते रहे। उन्होंने हकीम महदी के लिए पहले एक तारीख़ कही थी, अब उसी में थोड़ा-बहुत संशोधन करके फिर से एक उपहासात्मक रचना लिखी। अर्थात् 'गुरेख़्ता' के बजाय अब 'बाज़ गुरेख़्ता' (दोबारा भागा हुआ) कहा इससे १२४५ हिजरी तारीख़ निकली जो १८२८-२९ ईसवी के अनुसार है। बहरहाल नासिख़ धैर्य धारण किये बैठे रहे। हकीम महदी भी अपनी तमाम जोड़-तोड़ और कोशिशों के बावजूद नसीरुद्दीन हैदर के साथ अधिक समय तक नहीं निभा सके। पंचांग के अनुसार वे २९ अक्टूबर, १८३२ ईसवी से कुछ पहले ही पद-मुक्त हुए और लखनऊ से प्रस्थान कर गये। अब रोशन उद्दौला वज़ीर हुए। यह घटना हिजरी हिसाब से ४ जमादीउल सानिया (१२४८ ई.) से कुछ पहले की है। इसी दिन रोशन उद्दौला को वज़ारत मिली। अब नासिख़ खुश हुए होंगे इसलिए कि हकीम महदी की वज़ारत के युग में ही आग़ा मीर अपनी जोड़-तोड़ और अंग्रेजों की मिली-भगत से करोड़ों रुपये की धन-दौलत लेकर कानपुर पहुँचे। किसी तरह उन्हें लखनऊ और हकीम महदी से छुटकारा मिला। रोशन उद्दौला, आग़ा मीर के

---

१. इस्लामी साल का छठा क़मरी महीना

समधी थे और नासिख़ के साथ उनकी अच्छी उठ-बैठ थी। अतएव अब मैदान साफ़ पाकर रोशन उद्दौला के वज़ीर होने के कोई एक महीने बाद हालात का अंदाज़ा लगाने और अपने संरक्षक आग़ा मीर से भेंट करने के उद्देश्य से लखनऊ गये होंगे। वे २७ नवम्बर, १८३२ को लखनऊ पहुँच गये। इन तिथियों का अनुमान उस तारीख़ी क़त्आ से होता है जो कि उनके शागिर्द 'रश्क' ने नासिख़ के कानपुर से लखनऊ रवाना होने के सिलसिले में लिखा था। यह क़त्आ 'रश्क' के कुल्लियात में मौजूद है। खुद 'रश्क'। भी इस ज़माने में कानपुर में निवास करते थे। इस प्रकार निरंतर पाँच वर्ष की गर्दिश के बाद वे लखनऊ आ सके।

लखनऊ से बाहर उनका अधिकांश समय इलाहाबाद में व्यतीत हुआ। वे इधर-उधर जाते रहे लेकिन घूम-फिर कर इलाहाबाद आ जाते थे जहाँ शाह अजमल के दायरे में उनका निवास था और शाह अबुल मआली के ख़ास महमान थे। वे जहाँ-जहाँ गये, शे'रो-अदब का बीज बोते गये और शागिर्द बनाते गये। जिस जगह रहे मानो वहाँ शायरी का एक उपवन खिल गया। इस प्रकार उनकी भाषा-शैली का प्रभाव दूर-दूर तक बढ़ता गया। उनके श'रों से पता चलता है कि वे बनारस जाकर शेख़ हज़ीन के मज़ार की ज़ियारत भी करना चाहते थे। कुछ लोगों ने पटना और अज़ीमाबाद तक उनकी यात्रा की सीमाओं को फैलाया है लेकिन कोई प्रमाण नहीं मिलता कि वे अज़ीमाबाद और बनारस पहुँचे हों। इस ज़माने में वे लखनऊ के इर्द-गिर्द या ज़्यादातर कानपुर बहुत बार गये और फिर देस निकाले की यातनाओं से त्रस्त होकर इलाहाबाद आ जाया करते थे।

फिर फिर के दायरे ही में रखता हूँ मैं क़दम
आई कहाँ से गर्दिश-ए-पर्कार[1] पाँव में

लखनऊ से लम्बे समय तक उनका विछोह और निर्वासन उनके लिए अत्यंत पीड़ादायक सिद्ध हुआ। इसका अनुमान उनके उन शे'रों से होता है जो उन्होंने यायावरी के दौरान कहे थे। दूसरे दीवान में संकलित एक शे'र से अपने वतन को देखने की गहरी उत्कंठा का पता चलता है :

दश्त[2] से कब वतन को पहुँचूंगा
कि छटा अब तो साल आ पहुँचा

---

१. गोलाई खींचने का एक उपकरण २. जंगल

लेकिन वास्तव में अभी छठा साल पहुँचा नहीं था कि उनकी अभिलाषा पूरी हो गई। वे लखनऊ आ गये। हालांकि यह लखनऊ उनके लिए बदला हुआ-सा प्रतीत हुआ फिर वहाँ पुराने सम्बन्ध मौजूद थे। रोशन उद्दौला की सदाशयता के कारण आर्थिक कष्ट नहीं थे। अब उन्होंने मुशायरों में जाना भी कम कर दिया था। आमतौर पर ग़ज़ल लिखकर भेज दिया करते थे और वह बड़े सम्मान के साथ पढ़ी जाती थी।

कला के अभ्यास और सृजन की दृष्टि से उन्होंने अपने निर्वासन-काल को भी व्यर्थ नहीं गँवाया। शे'रगोई और इस्लाह (संशोधन) का सिलसिला बराबर जारी रहा। नये शागिर्दों की तादाद भी बहुत थी। लेकिन ऐसे में अगर कोई पुराना शागिर्द जैसे 'रश्क' इलाहाबाद पहुँच जाता था तो खुशी की कोई हद नहीं होती थी। 'रश्क' के कुल्लियात में कई शे'र नहीं बल्कि ग़ज़लें ऐसी हैं जो इलाहाबाद में कही गईं और ऐसे मुशायरों में पढ़ी गईं जिनमें नासिख़ मौजूद थे। परिस्थितियों के संयोग से इतने बड़े शायर का लखनऊ से बाहर रहना एक अनहोनी बात थी। उस ज़माने में ऐसा बहुत कम होता था। अतः शायरी का मार्गदर्शन प्राप्त करना सौभाग्य की बात समझी गई। यह सच है कि निर्वासित होने पर उन्हें बहुत यातनाएँ झेलनी पड़ीं लेकिन लोगों के आतिथ्य और सम्मान ने इस कष्ट की क्षतिपूर्ति कर दी। इसी ज़माने में महाराजा चंदूलाल ने एक बड़ी धनराशि किराये के नाम प्रेषित की और हैदराबाद आने का निमंत्रण दिया जहाँ शायद मलिकुश्शुअराई[1] का ख़िताब उनका इंतज़ार कर रहा था। किन्तु उन्होंने जाना गवारा नहीं किया। अभी-अभी आसिफ़ जाह (द्वितीय) की मृत्यु हुई थी। नासिख़ ने उनकी मृत्यु पर एक तारीख़ी क़त्आ लिखा और हैदराबाद रवाना भी किया होगा। इसी निर्वासन की अवधि में उन्होंने अपना दूसरा दीवान भी सम्पादित किया जिसमें निश्चित रूप से इसी दौर की ग़ज़लें रही होंगी। ये उनके हैरानी और परेशानियों के दिन थे। अतः इन गज़लों का रंग पहले दीवान की तुलना में बदला हुआ था। इनमें शिल्प का कठोर अनुशासन कम है। ये ग़ज़लें दुःख, निराशा और उद्विग्नता की भावनाओं से ओतप्रोत हैं। इसीलिए उन्होंने इस दीवान का तारीख़ी नाम 'दफ़्तर-ए-परीशान' सुझाया होगा जिससे १८३२ ई. (१२४८ हिजरी) तिथि निकलती है। इलाहाबाद और कानपुर में वे संगम और गंगा-यमुना पर भ्रमण के लिये जाते थे। कानपुर में भी वे प्रायः गंगा किनारे सैर

१. राज-कवि का पद

किया करते थे। इस दौर की ग़ज़लों में इलाहाबाद और कानपुर का स्थानीय रंग अक्सर दिखाई देता है। कानपुर में तो उन्होंने ऐसी अनेक ग़ज़लें कहीं कि जिनका विषय ही गंगा है। उन्होंने गंग-जमन मे रदीफ़-काफ़िए में कई ग़ज़लें लिखी हैं। यह उनकी देश-भक्ति का एक पक्ष है। अवध से बाहर अंग्रेजों की हुकूमत थी लेकिन लखनऊ में मुसीबतें उठाने के बावजूद उन्हें मुल्क-ए-अंग्रेज़ में रहना गवारा नहीं थाः

दिल मुल्क-ए-अंगरेज़ में जीने से तंग है
रहना बदन में रूह को कैद-ए-फ़िरंग है

कितने भी कष्ट की स्थिति में वे लखनऊ और उसके प्यार से उदासीन नहीं रहे। अगर लखनऊ से दोस्तों का पत्र आ जाता तो हृदय की कली खिल उठती। इस विछोह के दर्द पर उन्होंने बहुत-सी रूबाइयाँ और क़ता कहे हैं जो उनकी बेदना और प्राणांतक यातनाओं को अभिव्यक्ति देते हैं। इनमें लखनऊ के प्रति उनाका प्यार छुपा हुआ है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी शायरी के साक्ष्य के आधार पर इस युग में उन्हें लखनऊ का सबसे बड़ा आशिक़ करार देना चाहिए। उन्होंने अनगिनत ऐसी ग़ज़लें भी कही हैं जिनका विषय ही लखनऊ है। इनमें से अनेक ऐसी भी हैं जिनमें 'लखनऊ' को रदीफ़ बनाया गया है :

मिरे दम से था बोस्ताँ लखनऊ
मगर हो गया अब ख़िज़ाँ लखनऊ
ये आला मिरे लखनऊ की है शान
ज़मीं है जहाँ, आसमाँ लखनऊ
इलाही ये 'नासिख़' की है इल्तिजा
मिरे दम से हो शादमाँ लखनऊ

आसमाँ की कब है ताक़त जो छुड़ाये लखनऊ
लखनऊ मुझ पर फ़िदा है मैं फ़िदा-ए-लखनऊ
बादशाह-ए-लखनऊ की हो बयाँ किससे शुकोह[1]
हाथ में रखते हैं जामे-जम गदा-ए-लखनऊ[2]
गुल से रंगीनतर हैं ख़ार-ए-लखनऊ

१. शानो-शौकत, वैभव २. लखनऊ के भिखारी

नशे से बेहतर हैं ख़ुमार-ए-लखनऊ
हम सफ़ीर अपना वतन है लखनऊ
हम तो बुलबुल हैं, चमन है लखनऊ

निर्वासित रहने के बाद जब वह लखनऊ के पास पहुँचे तो भावनाओं का आवेग और तीव्र हो उठा और बेसाख़्ता एक ग़ज़ल कह डाली जो काफ़ी प्रभावित करती है :

दूर ऐ गुर्बत वतन नज़दीक है
मुर्ग़-ए-जाँ ख़ुश हो चमन नज़दीक है
करो वज़ू[1] 'नासिख़' बराए फ़ातिहा
रोज़ा-ए-शाह-ए-ज़मन[2] नज़दीक है

इस प्रकार पाँच वर्ष निर्वाचित रहने के बाद वे प्रसन्न भाव से लखनऊ पहुँचे। मानाकि रोशन उद्दौला की वज़ारत थी लेकिन वह आग़ा मीर वाली बात कहाँ ? बहरहाल सोचा यही होगा कि अब चैन के साथ वतन में रहना नसीब होग। इसी समय भाग्य ने एक चमत्कार और दिखाया। वह यह कि उन्हें पुनः निर्वासित होना पड़ा। ८ जुलाई, १८३७ ई. को नसीरुद्दीन हैदर का निधन हो गया और उनके स्थान पर हज़ार विघ्न-बाधाओं के बाद मुहम्मद अली शाह सल्तनत के तख़्त पर बैठें। वे बूढ़े हो चुके थे लेकिन प्रशासन का अच्छा अनुभव रखते थे। कारण, वे अपने पिता सआदत अली ख़ाँ के ज़माने में कारगुज़ार थे। इसी ज़माने में हकीम महदी और उनका बहुत साथ रहा था। वे हकीम महदी की योग्यता को भली-भाँति जानते थे। उन्होंने बहुत जल्द रोशन उद्दौला की सेवाएँ समाप्त कर दीं और हकीम महदी को फ़र्रुख़ाबाद से बुलाकर २३ अक्टूबर, १८३७ ई. को वज़ीर बना दिया। इस परिवर्तन से नासिख़ पर जो बीती, वह अकथनीय है। उनका एक पुराना शत्रु वज़ीर बन कर आ गया। अभी तक वे हकीम महदी के शिकंजे में नहीं आये थे। अब भी वे लखनऊ से तत्काल नहीं भागे। शायद उन्हें यह उम्मीद रही हो कि कोई परिचित अमीर या फिर विशेष रूप से मुहसिन उद्दौला जो नये बादशाह के दामाद थे, उन्हें बचा लें। मगर कुछ भी न हुआ। शायद हकीम महदी के दिल में नासिख़ के उपहासपूर्ण शे'र अभी भी खटक रहे थे। विस्तृत ब्योरों का तो पता नहीं लेकिन

१. नमाज़ के लिए नियमपूर्वक हाथ-पैर और मुँह धोना । २. शाह ज़मन का मज़ार

'ज़ायर' के बयान के अनुसार (क़ैसरुत्तवारीख़ ७२/२) हकीम महदी ने नासिख़ को बुलाने के लिए एक चोबदार भेज दिया। नासिख़ ने चोबदार को पंद्रह रुपये दिये जो उस ज़माने के हिसाब से एक बड़ी रक़म थी। ठंडा शरबत पिलाया और मिठाई आदि दी और कहा कि ठहरो, मैं पगड़ी और सवारी का इंतज़ाम कर लूँ, तब चलता हूँ। चोबदार बूढ़ा आदमी था। शरबत आदि पीकर उसे नशे की कैफ़ियत पैदा हो गई और वह सो गया। नासिख़ चुपके से निकलकर आग़ा मीर के ख़ास आदमी और अपने शागिर्द फ़क़ीर मुहम्मद खाँ 'गोया' के यहाँ पहुँचे। उन्होंने ज़नानी सवारी के तौर पर एक मियाने में बिठा कर अपने इलाके कोलहार (मलीहाबाद) भेज दिया। वहाँ से कानपुर पहुँचे और शायद इलाहाबाद पहुँच कर शाह अबुल मआली के फिर मेहमान बने। ऐसा इसलिए हुआ होगा कि उनके संरक्षक आग़ा मीर, जो लखनऊ से निकलकर कानपुर में ही रहते थे, का ७ मई, १८३२ ई. को देहांत हो गया था। लेकिन इस बार उनके भाग्य में अधिक यातनाएँ नहीं लिखी थीं। वे लखनऊ से २३ अक्टूबर, १८३७ ई. के बाद जल्द ही किसी दिन निकले होंगे जबकि हकीम महदी वज़ीर हुए। लेकिन अब हकीम महदी ख़ुद आयु की अंतिम सीढ़ी पर थे। वे २५ दिसम्बर, १८३७ ई. को दुनिया से सिधार गये। नासिख़ ने कानपुर से बहुत जल्द लखनऊ के लिए प्रस्थान किया। 'रश्क' ने एक क़त्आ लिखा जिससे बहुत-से ब्योरों का पता चलता है और हिसाब लगाने पर उनके लखनऊ आने की तिथि ७ जनवरी, १८३८ ई. ठहरती है। मृत्यु के बाद भी नासिख़ ने हकीम महदी का पीछा नहीं छोड़ा और तारीख़ का मिसरा कहा :

शब-ए-वलादत-ए-ईसा बमर्द ई दज्जाल[1]

जब वे जनवरी १८३८ के आरम्भ में दूसरी बार कुछ माह के निर्वासन के बाद लखनऊ पहुँचे तो बहुत कम दिनों जीवित रहे। लेकिन किसी प्रकार का कष्ट उठाये बिना सुख-चैन के साथ अंतिम दिन बिताये। मुहम्मद अली शाह का युग था। हालांकि लखनऊ में वह बात न रही थी फिर भी उनका दिल लगा रहा था। मुहम्मद अली शाह के दरबार में उनकी अच्छी पहुँच मालूम होती है जो इससे पहले और किसी बादशाह के दरबार में नहीं थी। उन्होंने कुछ ही महीनों में मुहम्मद अली शाह के लिए प्रशंसा और बधाई के क़त्ओं का ढेर लगा दिया। उनके प्रकाशित कुल्लियात

१. ऐ दज्जाल जिस वक़्त ईसा अलस्सलाम की पैदायश होगी तो तू उन्हें बहका नहीं पायेगा। अर्थात् अच्छाई के सामने कोई बुराई नहीं टिकती है। दज्जाल शैतानी फ़रिश्ते का नाम है।

में जितने मुहम्मद अली शाह की प्रशंसा में लिखे क़त्ए मिलते हैं उतने और किसी की प्रशंसा में नहीं। कहा जाता है कि उन्होंने नासिख़ को सौ या दो सौ रुपये मासिक वृत्ति भी बाँध दी थी। हालांकि विश्वसनीय स्रोतों से इसकी पुष्टि नहीं होती है। उन्हें मुहम्मद अली शाह ने ख़िलअत[1] भी दी जिसका किसी दूसरे बादशाह से प्राप्त होना मालूम नहीं है।

नासिख़ दो बार निर्वासित हुए। जो विवरण यहाँ दिया गया है, वही सच्चाई के समीप जान पड़ता है। विभिन्न स्रोतों में और बहुत-सी बातें लिखी हुई हैं, वे भ्रामक और मिथ्या प्रतीत होती हैं। मसलन् ग़ाज़ी उद्दीन हैदर का क़सीदे की फ़र्मायश करना और मलिकुश्शुअरा का खिताब देने का वायदा करना, इस सिलसिले में नासिख़ का इनकार और आग़ा मीर का सलाह देना कि आप कुछ दिनों के लिए बाहर चले जायें - सब मात्र महानी है। उन्हें बादशाह की प्रशंसा से अस्वीकार ही कब था ? वे ग़ाज़ी उद्दीन हैदर के शासन-काल में लखनऊ में ही रहे और पहली बार निर्वासित होने पर बाहर रहे। उनका लखनऊ से तीन-चार बार पलायन करना भी सच नहीं लगता। यह भी कपोल कल्पना है कि हकीम महदी के आने की ख़बर फैलती थी तो लोग यह पता कर लेते थे कि नासिख़ घर में हैं या नहीं। यदि नहीं हैं तो समझ लो हकीम महदी आ गये या आने वाले हैं और घर में हैं तो हकीम महदी के आने की ख़बर ग़लत है। इसी तरह यह बात कि एक बार साधु-संन्यासियों का वेश बनाकर बम-बम करते कंधे पर काँवर रखे हुए निकल गये और जब मुहम्मद अली शाह को इसकी ख़बर पहुँची तो ख़ूब हँसे।

— तज़्किरा ख़ुशमा'र्का ज़ेबा

कहा जाता है कि उन्होंने हकीम महदी से कहकर क्षमादान का पत्र लिखाया। यदि यह सच है तो नासिख़ को हकीम महदी के जीवन में ही लखनऊ आ जाना चहिए। ये सब बातें किंवदंतियाँ और अफ़वाहें मालूम होती है। इन बातों पर जितना ध्यान देंगे उतना ही इनका झूठ खुलता चला जायेगा।

जनवरी १८३८ ई. में जब वे लखनऊ पहुँचे तो उनके स्वास्थ्य में काफ़ी गिरावट आ चुकी थी। कहा जाता है कि वे लम्बे अरसे से रक्त-विकार के रोगी थे। उनके कपटी चाचा ने उत्तराधिकार के मुक़दमे के दौरान उन्हें ज़हर दे दिया था। यह रोग तब से ही

१. बादशाह की ओर से दिया जाने वाला प्रतिष्ठासूचक परिधान

था और बेसन की रोटी खाया करते थे। अस्वस्थ रहने के बावजूद उन्होंने शायरी नहीं छोड़ी। अपनी मशहूर मस्नवी 'सिराज-ए-नज़्म' मुकम्मल की जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। यह मस्नवी उन्होंने मुहम्मद अली शाह को नज़्र दी। लेकिन उनमें दिन-ब-दिन ह्रास होता रहा। बीमारी की विस्तृत जानकारी नहीं मिलती है। उनका जीवन रूपी सूर्य अस्त होने वाला है, उनके आत्मीय जनों को इसका अहसास हो चुका था। अंततोगत्वा इस पुरानी बीमारी के गंभीर रूप लेने के कारण १५ अगस्त, १८३८ ई. को उनका निधन हो गया। मृत्यु का समय ज्ञात नहीं। चौक के समीप टकसाल मुहल्ले में जिस मकान में रहते थे, उसी में दफ़्न हुए। दफ़्न का इंतज़ाम मिर्ज़ाई साहब ने किया जो उनके पुराने दोस्त थे और नासिख़ की वसीयत के अनुसार जो उनकी तमाम सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हुए। जिस मकान में दफ़्न हुए वह अब भी मौजूद है। मगर अब यह मकान छोटा और मामूली-सा लगता है। टकसाल वाली गली के पश्चिमी सिरे पर यह मकान स्थित है। दक्षिण की ओर दालान की पश्चिमी दिशा में एक कोठरी है, जिसमें उनकी क़ब्र बताई जाती है। कोई क़ब्र का निशान या कुत्बा[१] मौजूद नहीं है। कोठरी रिहायश के काम में आती है। शायद ही उनका ऐसा कोई शागिर्द हो जिसने उन्हें शे'रों के माध्यम से श्रद्धांजलि अर्पित न की हो और तारीख़ न कही हो। 'रश्क' की एक तारीख़ का ज़िक्र आ चुका है जिससे कि मृत्यु के दिन, महीना, वर्ष और यहाँ तक कि उस समय उनकी आयु तक का पता चलता है। ख़ुद 'रश्क' और उनके दूसरे शागिर्दों ने तारीख़ों के जैसे अंबार लगा दिये। यदि सबको एकमा कर लिया जाये तो एक दीवान-सा बन जाये। तारीख़ों में एक शायर के रूप में उनकी उपलब्धियों और योगदान का भी समुचित उल्लेख किया गया है :

उठा मर्ग-ए-नासिख़ का गुल[२] चार सू[३] से
गया लुत्फ़ तहक़ीक़[४] का गुफ़्तगू से
कहा 'रश्क' ने मिसरा-ए-साल-ए-रहलत[५]
दिला[६] शे'र गोई उठी लखनऊ से

— 'रश्क'

---

१. क़ब्र पर लगा हुआ पत्थर जिस पर मृतक का नाम और मृत्यु-तिथि खुदी रहती है।
२. शोर, कोलाहल ३. चारों दिशाएँ ४. खोज, शोध ५. मृत्यु का वर्ष ६. ऐ दिल, हे मन

नासिख़ कि बूद अकमल ब फ़न
उस्ताद बा इरशाद मा
तारीख़ गुफ़्तम ऐ क़बूल
रफ़्त अज़ जहाँ उस्ताद मा[१]

— 'क़बूल'

दर शे'रो सुख़न मिस्ल नदाश्त
फ़िलहक़ीक़त हमा दान नासिख़ बूद
तर्ज़-ए-नो कुर्द बआलम ईजाद
'नासिख़' सहर बयान नासिख़ बूद
ख़त्म शुद शायरी-ए-हिंद बर ओ
ख़ातिम अहल-ए-ज़बान नासिख़ बूद
साल-ए-तारीख़ रज़ा मौजूँ कुर्द
आह उस्ताद-ए-जहाँ नासिख़ बूद[२]

(५)

नासिख़ की जीवन-शैली, आदतों और तौर-तरीक़ों के विषय में आज़ाद ने 'आब-ए-हयात' में बहुत से तथ्यों और मनोरंजक प्रसंगों का उल्लेख किया है। दूसरे स्रोतों से भी इस विषय में काफ़ी जानकारी मिलती है। उनके व्यक्तित्व में गांभीर्य और विवेकशीलता के साथ-साथ एक प्रकार की उदासी और उद्विग्नता का भाव भी

१. नासिख़ ने 'क़बूल' से कहा कि तुम अपने फ़न में मुकम्मल हो। उस्ताद ने मुझसे ख़ुश होकर कहा, तुम तारीख़ कहो कि तुम्हारा उस्ताद दुनिया से रुख़्सत हो गया।

२. शे'र-ओ-सुख़न में फ़िलहाल नासिख़ के समान कोई नहीं है। नासिख़ शायरी की दुनिया में नई शैली की ईजाद करने वाला था। उसके बयान में सुबह जैसी ताज़गी थी। उसके साथ हिंदुस्तान की शायरी ख़त्म हो जाती है। नासिख़ अपनी भाषा-शैली के प्रवर्तक भी थे और समापन कर्ता भी। ऐ लोगो, उनके मरने की सही तारीख़ कहो कि तुम्हारा उस्ताद संसार से विदा हो गया।

विद्यमान था। मित्रों के प्रति उदार थे और बेतुके लोगों से बहुत जल्द उकता जाते थे। अत्यंत स्वाभिमानी, परोपकारी और दानशील थे। मान-प्रतिष्ठा का बड़ा ध्यान रखते थे।

उनका घर शहर के बीचों-बीच पड़ता था। बड़े-बड़े अमीरों की हवेलियाँ तथा लखनऊ के बुद्धिजीवियों और गण्यमान्य लोगों के आवास उनके पास ही थे। इस प्रकार उनका घर एक साहित्य-केन्द्र बन गया था, जहाँ शहर के शायर, कलाकार और विद्वानों का सतत आवागमन बना रहा था। वे दिनचर्या के पाबंद भी थे और दोस्तों के मजमें के प्रेमी भी। सुबह होते-होते वर्ज़िश और कसरत की थका देने वाली क्रियाओं से निवृत्त हो जाते थे। सुबह और तीसरे पहर का समय सामान्यतया मिलने-जुलने वालों के साथ बीतता था या शागिर्दों के कलाम की इस्लाह होती रहती थी। प्रायः रात को शे'रो-शायरी पर चिंतन करते थे। महफ़िल के शिष्टाचारों का बहुत ध्यान रखते थे, तकिये से लगे बैठे रहते थे। शागिर्द जिनमें प्रायः अमीरज़ादे और बड़े घरों के शरीफ़ लोग भी होते थे, अदब के साथ बिछोने के हाशिए पर बैठते जाते थे। किसी को दम मारने की मजाल न होती थी। शेख़ साहब कुछ सोचते, कुछ लिखते फिर किसी शागिर्द की तरफ़ मुख़ातिब होकर 'हूँ' कहते, वह ग़ज़ल सुनाना शुरू कर देता। किसी शे'र में कोई शब्द बदलने योग्य होता या आगे-पीछे करने से काम निकल जाता तो इस्लाह कर देते अन्यथा कह देते, 'यह कुछ नहीं निकाल डालो, या इसका पहला या दूसरा मिसरा अच्छा नहीं है इसे बदलो, क़ाफ़िया ख़ूब है, मगर अच्छे पहलू से नहीं बंधा है।' जब एक शार्गिद पढ़ चुकता तो दूसरा शुरू होता।

– आब-ए-हयात, पृष्ठ ३३६

वे खाने के शौक़ीन थे। जैसा उनका शरीरिक गठन था और कसरत और वर्ज़िश थी, वैसी ही भोजन की मात्रा भी थी। भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यंजन बनवाते थे, आल-औलाद तो थी नहीं, सब प्रबंध मर्दाना था। बाज़ार से भी अक्सर कुछ न कुछ मँगवा लेते थे। भोजन एक ही समय याने दोपहर को करते थे। सामान्यतया अकेले में भोजन करते थे। जूठे बासन नौकर उठता था तो दो थाल भर जाते थे। कहा जाता है कि एक समय में पक्के पाँच सेर खा लेते थे, जो उनके डील-डौल को देखते हुए कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। यदि कोई मित्र या शागिर्द कभी खाने में

शरीक होता तो उसे भी आग्रह के साथ बहुत खिलवाते थे। उनके अतिभोजी होने की पुष्टि सभी करते हैं बल्कि लखनऊ में तो मशहूर हो गया था कि उनके पेट में जिन समा गया है। निर्वासन की अवधि में भी जहाँ पहुँचे, लोगों ने सिर-आँखों पर बिठाया। इलाहाबाद में सबसे ज़्यादा रहे। वहाँ मेहमानी का अमीराना खाना तीन-तीन जगहों से हाज़िर किया जाता था फिर भी अपनी रसोई गर्म रखते थे और जो जी चहता, पकवाते थे। फ़सल की चीज़ों और मेवों का भी शौक़ था। किसी चीज़ को जी चाहा तो उस दिन खाना बंद। जामन को जी चाहा तो पूरी डलिया भर कर बैठ गये। पसेरी भर वही खा डालीं। आम को जी चाहा तो कई टोकरे मँगवा लिये, नाँदों में भिगोये गये और ख़ाली कर के उठ गये। भुट्टियों को जी चाहा तो गुल्लियों के अंबार लगा दिये। एक बार कल्ब हुसैन ख़ाँ नादिर ने उन्हें मेहमान बनाया और कई दिन तक उनकी ख़ातिर-तवाज़ा की। वे बड़े विद्वान और अच्छी सोच वाले शायर थे, डिप्टी कलक्टर थे और नासिख़ के शागिर्द थे, अंग्रेजी इलाक़े सोराम में नियुक्त थे। नासिख़ उनके यहाँ ठहरे थे। एक दिन उनके लिए विशेष रूप से अच्छा भोजन तैयार कराया गया जिसके कारण रोज़ की अपेक्षा कुछ विलम्ब हो गया। नासिख़ ने देखा कि नौकर अपने-अपने खाने लेकर ड्योढ़ी से बाहर निकल रहे हैं। उन सबको बुलाया। पूछा, 'क्या है ?' उन्होंने कहा, 'हम अपना खाना लिये जा रहे हैं।' कई नौकरों का खाना वहीं रखवा लिया और खा-पी कर चाट-पोंछ के बर्तन हवाले किये और कहा, जब हमारा खाना आ जाये तो तुम खा लेना। नौकर जब तक नादिर को खबर करें और वे आयें यहाँ सब क़िस्सा ख़त्म हो चुका था। नादिर के बेटे खुद आग़ा कल्ब आबिद खां ने 'आज़ाद' से इस घटना की पुष्टि की है और बताया कि नासिख़ के स्वभाव में स्वच्छंदता थी। कभी ऐसा भी हुआ कि खाते-खाते एक दम सालन का प्याला उठाया और खिड़की के बाहर फैंक दिया। देखा गया तो उसमें कुछ न था। हुक्के के भी बहुत शौक़ीन थे। तरह-तरह के हुक़्के खुद खरीदते थे और लोग उन्हें भेंट स्वरूप भी देते थे। जब उनके ख़ास दोस्तों की महफ़िल जमती तो हरेक को अलग-अलग हुक़्क़े पेश किये जाते थे। एक कोठरी सिर्फ़ हुक़्क़ों से भरी रहती थी।

यों तो जैसा कि ज़िक्र किया जा चुका है, सभा-गोष्ठियों के बड़े शौक़ीन थे और इसके फ़ायदों से भी भली-भाँति परिचित थे :

न तर्क[1] सुहबत-ए-अहबाब कीजिओ 'नासिख़'
गिरा जो बर्ग-ए-शजर[2] पायमाल[3] रहता है

लेकिन कई बार छोटी-छोटी बातों पर उबल पड़ते थे। कोई साहब मुलाक़ात को आये, हाथ में छड़ी भी थी। पास में एक मिट्टी का ढेला पड़ा था। शग़ल के तौर पर उसे धीरे-धीरे तोड़ने लगे। शेख़ साहब ने नौकर से एक डलिया भर मिट्टी के ढेले मँगवाये और सामने डलवा दिये और कहा कि 'अब आप इत्मीनान से अपना शौक़ पूरा कीजिये।' कभी ऐसा होता कि आने वाले उठने का नाम भी न लेते। यदि इस वक़्त नासिख़ किसी विचार में डूबे हुए हैं या शे'र पर सोच रहे हैं तो बस तत्काल उनका पारा चढ़ जाता। इसी तरह एक सज्जन आये और जब किसी तरह न उठे तो उन्होंने अपने छप्पर में आग लगवा दी। वह सज्जन घबराकर उठे और बोले, 'देखिए क्या हो रहा है ?' नासिख़ ने उनका हाथ पकड़ लिया, 'अब कहाँ चले, हमें और तुम्हें दोनों को यहीं जलकर खाक़ होना है। तुमने मेरे विचारों को खाक़ में मिलाया, अब भला मैं तुम्हें जाने दूँगा।' इसी तरह कोई सज्जन टलने का नाम न लेते थे। शेख़ साहब ने नौकर को बुलाया और कहा, संदूकचा ले आओ। उसमें से मकान के आधिपत्य से सम्बंधित कागज़ात निकाले और उनके सामने रख दिये और कहा, 'यह मकान हाज़िर है।' नौकर से कहा, जल्दी मज़दूर बुलवाओ और सामान उठवा कर ले चलो। मकान पर तो इनका क़ब्ज़ा हो ही गया है, कहीं समान भी हाथ से न जाता रहे।'

एक बार उनके शागिर्द मीर 'उंस' उनसे मिलने पहुँचे। देखा कि सारे आंगन में पानी भरा दिया गया है। बीच में एक चौकी है, उस पर बैठे हैं। जाने का रास्ता नहीं है। 'उंस' ने सलाम किया। देखकर बोले, आओ। उन्हें हँसी आई लेकिन उनके रौब के मारे रोके रहे और कहा कि 'हुज़ूर कैसे आऊँ, तमाम तो पानी भरा हुआ है।' जवाब दिया, हाँ। फिर अपने नौकर सलाबत को पुकारा और एक पटरा मँगवाया। 'उंस' इस पटरे पर होकर चौकी तक पहुँचे फिर वह पटरा तुरंत हटवा दिया गया और कहा, 'लोग आते तो हैं चौक की सैर को, जब जी भर गया तो कहा अब चलो नासिख़ के शे'र सुनें। न समझते न बूझते दिमाग़ परेशान करते हैं। मैंने ऐसे ही लोगों के लिय, यह तरकीब निकाली है।

१. तोड़ना, खत्म करना २. वृक्ष ३. पैरों के नीचे कुचला हुआ।

आमतौर से अपने शे'र ख़ुद नहीं सुनाते थे लेकिन सुरुचिसम्पन्न लोग पहुँचते रहते थे और फ़र्मायिश करते रहते थे। कभी-कभी दीवान सामने रख देते थे कि मुलाहिज़ा कर लीजिए। इसके अलावा उन्होंने कुछ बेहूदा शे'र भी जोड़ रखे थे। पहले उन्हें सुनाते थे। अगर श्रोता प्रशंसा में वाह-वाह का शोर मचा देता तो फिर चुप हो जाते अन्यथा शायरी की समझ का अंदाज करके अपना कलाम सुनाते।

सामान्य परिस्थितियों में वे शालीन और मानवीय सहानुभूति की भावना रखने वाले इंसान थे। लेकिन कभी-कभी इतने विचार मग्न रहते थे या शायद भीतरी बेचैनी के कारण उनके स्वभाव में इतना क्रोध दिखाई देने लगता था कि ऐसे में अपरिचित व्यक्ति उन्हें घमंडी या अभद्र भी कल्पित कर सकता था। जब कि वास्तविकता यह नहीं थी। महदी हुसैन 'फ़राग़' इस ज़माने में लखनऊ के अच्छे शायरों बल्कि उस्तादों में शुमार होते थे। एक बार उनके घर पहुँचे। नासिख़ ने गरज कर पूछा, कहिए साहब कैसे तशरीफ़ लाना हुआ। उन्होंने फ़ारसी के किसी शे'र का अर्थ पूछा। जवाब दिया, मैं फ़ारसी का शायर नहीं हूँ और फिर किसी व्यक्ति से बातें करने लगे। वे बेचारे पछताते हुए वापस गये। 'आज़ाद' का कथन है कि मिर्ज़ा दबीर (जिन्होंने बाद में मर्सिया निगारी में बड़ा नाम कमाया, नासिख़ के युग में ही बड़े शायर माने जाने लगे थे) एक बार नासिख़ के यहाँ गये। उन्हें अपने उस्ताद (शायद 'ज़मीर') की कोई इस्लाह पसंद नहीं आई थी। अपने शे'र और उस्ताद की इस्लाह का ज़िक्र किया। नासिख़ ने कहा कि यह उस्ताद का बनाया हुआ दुरुस्त है। 'दबीर' ने कहा कि किताबों में तो इस तरह आया है जैसा कि मैंने लिखा है। नासिख़ ने फिर कहा कि जो तुम्हारे उस्ताद ने संशोधन किया है, वही दुरुस्त है। 'दबीर' ने कहा कि हुज़ूर आप इस किताब पर तो नज़र डालिए। बस यह सुनना था कि नासिख़ झुंझला उठे। एक छड़ी सामने रखी थी। उसे लेकर झपटे और कहा, 'तू किताब को क्या जाने ? हमारे सामने किताब का नाम लेता है। किताबें देखते-देखते हम ख़ुद किताब हो गये हैं।' मिर्ज़ा-दबीर ने रास्ता नापने में ही अपनी भलाई समझी।

ऊपर से देखने में वे कठोर लगते थे लेकिन वे दया और सहानुभूति की जीवंत प्रतिमा थे। लोगों के साथ सदव्यवहार करने में हिचकते नहीं थे। किसी की मुसीबत में काम आने से बचाव नहीं करते थे। उनके जीवन की कुछ घटनाओं से इस व्यवहार की पुष्टि होती है। इनमें से कुछ घटनाएँ सआदत ख़ान नासिर (तज़्किरा

ख़ुश मा'र्का ज़ेबा का संकलनकर्ता) ने प्रस्तुत की हैं, जो नासिख़ से हमदर्दी नहीं रखता है और मौका पड़ने पर निंदा य नुक्ताचीनी से बाज़ नहीं आता। उसी का बयान है कि मुहम्मद ईसा 'तनहा' बीमार पड़े तो उनके कष्ट का समाचार पाकर नासिख़ ने उन्हें दो सौ रुपये भेजे। उसी ने यह भी कहा है कि मीर तकी 'मीर' का निधन हुआ तो उनके कफ़न-दफ़न का सारा ख़र्च नासिख़ ने उठाया। इसी प्रकार १८३३ ई. में न जाने क्या संयोग हुआ। किसी झुंझलाहट के अतिरेक की स्थिति में उन्होंने दो बंदर मार डाले। क्रोध में यह काम तो कर बैठे। लेकिन बाद में बहुत ही लज्जित हुए और पश्चाताप किया। इसी प्रसंग को लेकर फ़ारसी में अपेक्षाकृत एक बड़ा क़त्आ लिखा जिसमें इस अपराध पर बड़ी लज्जा व्यक्त की और रह-रह कर ख़ुदा से माफ़ी माँगी, तौबा की और ख़ुदा के रसूल व इमामों का वास्ता देकर क्षमाप्रार्थी हुए। यह क़त्आ प्रकाशित कुल्लियात में नहीं है। पाण्डुलिपि (जॉन पाल्मर, लखनऊ विश्वविद्यालय) में मिल जाता है।

उनकी प्रकृति में अहं और स्वाभिमान की भावना बहुत प्रबल थी। किसी का अहसान लेना उन्हें लेशमात्र स्वीकार नहीं था। शुरू में वे मिर्ज़ा हाजी क़मर से जुड़े थे। जब वे विपत्ति में घिरे तो नासिख़ जोखम उठाकर भी उनसे मिलते रहे। बाद में वे आग़ा मीर के निकट आये लेकिन स्वाभिमान के साथ और वह भी मिर्ज़ा हाजी के लखनऊ से निकल जाने के बाद। उन्होंने आग़ा मीर के वर्चस्व को भली-भाँति समझ लिया था और उनकी उपेक्षा करने से जो हानि हो सकती थी, उसे भी अच्छी तरह समझते थे। उन्होंने दरबारदारी नहीं की। एक क़सीदा उनके लिए ज़रूर कहा लेकिन आग़ा मीर के व्यवहार और उपकारों की तुलना में यह कुछ भी नहीं है। हालाँकि उनकी प्रकृति क़सीदे से मेल खाती थी और उस युग में क़सीदा निगारी का रिवाज भी बहुत था। उन्हें अच्छे अवसर भी मिले। उन्होंने लगभग छः शासकों का ज़माना बख़ूबी देखा। लेकिन हमें वे अवध के दरबार में क़सीदे पढ़ते और पेश करते हुए कभी दिखाई नहीं देते । वे शासकों और दूसरे अमीरों के लिए छोटे क़त्आ लिख देते थे। इससे अधिक कुछ नहीं। अवध के दरबार उन्हें कभी कोई आर्थिक सहायता मिली हो, इतिहास में इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है। उन्होंने अंतिम अवस्था में सबसे ज़्यादा क़त्आ मुहम्मद अली के लिए कहे। यह तो मिलता है कि मुहम्मद अली शाह से उन्हें ख़िलअत प्राप्त हुई थी। कुछ वृत्तांतकारों ने मासिक-वृत्ति का भी

उल्लेख किया है, यह सूचना प्रामाणिक स्रोतों के अनुरूप नहीं है। यदि कुछ मिला भी हो तो कुछ माह के लिए मिला होगा। क्योंकि मुहम्मद अली शाह के युग में वे निर्वासन की अवधि बिताकर लखनऊ वापस आये थे और बहुत कम समय तक जीवित रहे थे।

उन्होंने किसी की निंदा या उपहास के उद्देश्य से शायरी नही की। यद्यपि उस युग में व्यक्तिगत और साहित्यिक विवादों में उपहास की शायरी का प्रचलन था। बहुत से लोगों ने शे'रों में उनका मज़ाक उड़ाया। 'आतिश' और उनके अनेक शागिर्दों में उन पर बड़े प्रहार किये। हसीन अली 'तास्सुफ़' ने उनकी निंदा में कोई कमी नहीं छोड़ी। उन पर भिन्न-भिन्न प्रकार के आरोप भी लगाये गये, साहित्यिक भी और व्यक्तिगत भी। लेकिन उन्होंने ज़्यादा से ज़्यादा एक-आध क़त्आ या दो-चार शे'र, जिनमें साहित्यिक स्पर्श भी होता था, कहकर क़िस्सा ख़त्म कर दिया। अशिष्ट लोग उन पर दुम कटा भैंसा कह कर व्यंग्य करते थे और उनके काले रंग की अनुरूपता का उपहास करते थे। 'आतिश' ने उन पर एक बार प्रहार किया :

रू सिया[१] दुश्मन का यूँ पापोश[२] से कीजिए फ़िगार[३]
जैसे सिलहट की सिपर[४] पर ज़ख़्म हो शम्शीर का

उनके शागिर्द फ़क़र मुहम्मद ख़ाँ ने जवाब लिखा :

है यक़ीं गुल हो जो देखे गेसू-ए-दिलवर चिराग़
आगे काले के भला रोशन रहे क्यूँ कर चिराग़

स्वयं नासिख़ ने भी जवाब लिखा और सच तो यह है कि ख़ूब लिखा। अब तो उनका यह शे'र कहावत बन चुका है :

मैं गोकि हुस्न से ज़ाहिर में मिस्ल-ए-माह[५] नहीं
हज़ार शुक्र कि बातिन[६] मेरा स्याह नहीं

गुलामी वग़ैरह का आरोप उन पर बराबर लगता रहा। स्वयं 'आतिश' ने भी एक शे'र में चोट की है :

ये बज़्म वो है कि ला ख़ैर का मुक़ाम नहीं
हमारे गंजफ़ा[७] में बाज़ी-ए-ग़ुलाम नहीं

---

१. काले रंग वाले २. जूता ३. घायल ४. ढाल ५. चंद्रमा के समान
६. मन,आत्मा ७. ताश के पत्ते

नासिख़ के किसी शागिर्द ने जवाब लिखा :

जो ख़ास बंदे हैं वो बंदा-ए-अवाम नहीं
हज़ार बार जो यूसुफ़[१] बिके गुलाम नहीं

शेवा राम 'शायक़' पहले मुसहफ़ी का फिर आतिश का शागिर्द हुआ। आतिश ने ज़रा ध्यान से उसके कलाम पर इस्लाह दी। उसने नासिख़ को ध्वस्त करने का निश्चय कर लिया। वह उनकी हर ग़ज़ल का जवाब लिखने लगा। नासिख़ को सूचना मिली। उन्होंने ग़ज़ल कही और दो शे'र ये भी लिख दिये :

कह रहा है एक जाहिल मेरे दीवाँ का जवाब
बूमसीलमा[२] ने कहा था जैसे क़ुरआँ का जवाब
क्या कलीम अल्लाह[३] से निस्बत है उस नापाक को
चाहिए फ़िरऔन[४] को दे अपने हामाँ[५] का जवाब

खुद नासिख़ के शागिर्दों में एक लाला फ़तेहचंद उपनाम 'शायक़' उस समय मौजूद था। हो सकता है, उसने यह उपनाम नासिख़ के परामर्श से रखा हो और नासिख़ ने उसे शेवाराम 'शायक़' को पराजित करने के लिए तैयार किया हो।

इन घटनाओं से उस युग के साहित्यिक वातावरण की गर्मी का अनुमान होता है। लेकिन नासिख़ ने सदैव धैर्य और गंभीरता का परिचय दिया। वे तो अपने शागिर्दों को भी निरर्थक आक्षेपों का उत्तर देने से रोकते रहते थे और जहाँ तक हो सकता था मामले को शांति के साथ टाल देते थे। उनके दीवान में ऐसे निंदापरक शे'रों की संख्या बहुत कम है:

क्या रक़ीब-ए-रूसिया है चीज़ 'नासिख़' के क़रीब
दब गई आवाज खर[६] की शेर की आवाज़ से
कजी[७] रोज़-ए-अज़ल[८] से तीनत-ए-मूज़ी[९] में दाख़िल है
किया ख़ालिक़ ने साथ अफ़ई[१०] के पेचो-ख़म पैदा

ऐसी बहुत-सी घटनाओं के लिए 'आब-ए-हयात' और अन्य वृत्तांतों का अवलोकन करना चाहिए।

---

१. एक पैगम्बर जो सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध थे २. अरब का एक काफ़िर जिसने नबी होने का दावा किया था ३. ईशवर से वार्तालाप करने वाला, हज़रत मूसा की उपाधि
४. मिस्र का एक अत्याचारी शासक ५. फ़िरऔन का वज़ीर जो बड़ा अत्याचारी था
६. गधा ७. तिरछापन ८. अत्याचरी का स्वभाव ९ स्रष्टा, ईश्वर १०. काला विषैला साँप

जहाँ तक उनके मज़हब का संबंध है, अंतर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्यों के आधार पर वे शिया मतावलम्बी थे। उनका पैतृक मज़हब सुन्नी था। वे स्वयं भी पहले सुन्नी थे। उन्होंने मज़हब कब बदला, यह ज्ञात नहीं। पिता की मृत्यु से पहले या बाद में, कुछ कहा नहीं जा सकता। हो सकता है कि अपने युग की आम धारणाओं के अलावा उन्होंने काज़िम अली 'सालह' की निकटता और संगति के प्रभाववश मज़हब बदला हो। वे अपने युग के प्रसिद्ध विद्वान और धार्मिक आस्थाओं वाले व्यक्ति थे। यह नहीं पता कि नासिख़ उनसे पहले-पहल कैसे जुड़े ? लेकिन नासिख़ ने उनसे दीन और मज़हब के विषय में बहुत कुछ सीखा। उनके आग्रह पर ही 'सिराज-ए-नज़्म' नामक मस्नवी लिखी। वे उनके प्रति गहरी श्रद्धा रखते थे। उनकी मृत्यु पर उन्होंने १८३३ ई. में अनेक तारीखें लिखीं जिनसे यह श्रद्धा व्यक्त होती है। मिर्ज़ा काज़िम अली 'सालह' उनके आत्मीय और नवोदित शागिर्द 'बर्क़' के पिता थे। नासिख़ के दीवान, मस्नवियों और अलग-अलग हालात से ज्ञात होता है कि मज़हब उनके लिए मात्र एक औपचारिक मामला न था, वे सचेत रूप से एक धार्मिक व्यक्ति थे। लेकिन उनमें भेद-भाव और संकीर्णता नहीं थी। वे सर्वधर्म समभाव के पक्षधर थे। यही कारण है कि उनके शागिर्दों में शिया, सुन्नी और हिंदू सभी दिखाई देते हैं। बहुत से ग़ैर शिया लोग थे, जो उनके अंतरंग और अभिन्न हृदय कहे जा सकते हैं।

(६)

नासिख़ का परिचय-वृत्त न केवल व्यापक था बल्कि वैविध्यपूर्ण भी था। वे ख़ुद बड़े शायर थे इसलिए शागिर्दों की फ़ौज उनके गिर्द जमा रहती थी जिसका सम्बन्ध हर वर्ग से था। उनका राजनीतिक महत्त्व भी था इसलिए उनके सम्बन्धों का दायरा निरंतर बढ़ता चला गया। लखनऊ के अनगिनत अमीरों से उनके नज़दीकी सम्बन्ध थे। सहिष्णु और कर्मठ थे इसलिए भी ज़रूरतमंद लोगों का उनके आसपास जमाव रहता था। वे वर्षों लखनऊ रहे तो उनके नये-नये मित्र और प्रशंसक बनते गये। उनके आत्मीय जनों की संख्या का अनुमान करना कठिन है। अमीर, शाहज़ादे, बुद्धिजीवी, धर्मवेत्ता, कला-समीक्षक, व्यापारी, हकीम और सुलेख लिखने वाले सभी उनके मित्र-वर्ग में शामिल थे। इन विभिन्न वर्ग के लोगों में उनके शागिर्द भी फैले हुए थे। इनके विस्तृत विवरण के लिए एक अलग अध्याय चाहिए।

'आतिश' उनके स्थायी प्रतिद्वंद्वी थे और दोनों के शागिर्दों का दायरा इतना विस्तृत था कि शायरी की प्रतिद्वंद्विता और साहित्यिक बहस-मुबाहिसों से शायद ही कोई दिन ख़ाली जाता हो। 'आतिश' एक निर्भीक, बेबाक और आत्मकेन्द्रित व्यक्तित्व के धनी थे। वे नासिख़ की भाँति व्यावहारिक और अवसर को पहचानने वाले व्यक्ति नहीं थे। इसलिए ऐसे अवसर प्रायः आते ही रहते थे कि नासिख़ यदि व्यावहारिकता से काम न लेते तो बड़े-बड़े झगड़े हो जाते और इन दोनों की कहानी 'इंशा' और मुसहफ़ी से भी कहीं अधिक खेदपूर्ण होती। दोनों के बीच कभी मधुर सम्बन्ध नहीं रहे। एक-दूसरे के यहाँ आना-जाना भी नहीं था और आरंभिक दौर के अलावा दोनों एक साथ किसी मुशायरे में भी नहीं गये। 'आतिश' ने कई बार उन्हें बीच मुशायरे में आपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाया। लेकिन नासिख़ हर बार टाल जाते थे। समकालीनों के बीच की नोंक-झोंक की बात और है लेकिन इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि शायरी के स्तर पर दोनों एक दूसरे को निकृष्ट मानते थे। 'आब-ए-हयात' के माध्यम से 'आतिश' के सम्बंध में इस बात का पता चलता है कि नासिख़ उन्हें शायरी में मुहावराबंदी का प्रणेता स्वीकार करते थे। ख़्वाजा 'आतिश' के सामने भी किसी ने नासिख़ का यह शे'र पढ़ा था :

जुनूँ पसंद मुझे छाँव है बबूलों की
अजब बहार है इन ज़र्द-ज़र्द फूलों की

तो उन्होंने नासिख़ की भाषा-क्षमता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। कई स्रोतों से कुछ ऐसे मुशायरों की जानकारी मिलती है जिनमें दोनों के बीच शायरी के माध्यम से ख़ूब बहसें हुई। आग़ा मीर ने एक बार अपने नव-निर्मित महल में मुशायरा किया। मिसरा 'तरह'[1] निकाला गया। नासिख़ विशेष आमंत्रितों में थे। बाक़ी शहर के सभी अच्छे शायर बुलाये गये। लेकिन किसी साज़िश या ग़लत फ़हमी के कारण आतिश को सिर्फ़ एक दिन पहले मिसरा तरह पहुँचा। उन्होंने कहा कि 'शायद आग़ा मीर हमारा इम्तहान लेना चाहते हैं जो ऐन वक़्त पर मिसरा तरह भेजा है। ख़ैर यों तो हम जाते या न जाते मगर अब जाना ज़रूरी है।' अपनी विशेष सज-धज और आन-बान के साथ शागिर्दों की एक टोली लेकर मुशायरे में दाख़िल हुए। जब शमा सामने आई तो नये मकान की मुनासिबत से उन्होंने यह मत्ला[2] पढ़ा :

---

१. वह पंक्ति जिसे आधार बना कर सभी शायर ग़ज़ल कहते हों।

२. ग़ज़ल का पहला शे'र जिसकी दोनों पंक्तियों में रदीफ़-क़ाफ़िया होते हैं।

ये किस रश्क-ए-मसीहा का मकान है
ज़मीन जिस की चहारम आसमान है

मौक़े के मुताबिक़ मत्ला था इसलिए दुश्मन (नासिख़) के मुँह से भी वाह निकल गई।

– आब-ए-बक़ा

इस तरह के मुशायरे का ज़िक्र 'आज़ाद' ने भी किया है। एक नवाब साहब के यहाँ मुशायरा था जो कि नासिख़ के श्रद्धालु थे। उन्होंने निश्चय किया कि जब नासिख़ ग़ज़ल पढ़ लें तो उन्हें कार्यक्रम के बीच ख़िलअत देकर सम्मानित करें। 'आतिश' के पास मिसरा तरह मुशायरे के ठीक एक दिन पहले पहुँचा। बहुत नाराज़ हुए और कहा कि लखनऊ रहने की जगह नहीं रही। हम यहाँ नहीं रहेंगे। सब शागिर्द एकत्र हुए। हाथ-पाँव जोड़ कर बहुत समझाया लेकिन आतिश अपने तीखे स्वभाव के कारण बाहर निकल गये। एक मस्जिद में जा बैठे और फिर ग़ज़ल कहकर लाये और अपने शागिर्दों के साथ मुशायरे में पहुँचे तो साथ में एक भरा अहुआ क़राबीन (छोटी बंदूक) भी लेते गये। ऐन नासिख़ के सामने बैठे। बार-बार क़राबीन उठाते थे और रख देते थे। रौब-दाब उनका भी ऐसा था कि कोई बोल नहीं सकता था। जब शमा सामने आई तो अपनी वह मशहूर ग़ज़ल पढ़ी जो उनकी श्रेष्ठतम रचनाओं में गिनी जाती है। वातावरण की सृष्टि के लिहाज़ से यह ग़ज़ल बेजोड़ है। इसके शे'र आज कहावतों के रूप में मशहूर हैं। मत्ला देखिए :

सुन तो सही जहाँ में है तेरा फ़साना क्या
कहती है तुझको ख़ल्क़ ख़ुदा ग़ायबाना क्या

हर शे'र में नासिख़ पर किसी न किसी रूप में चोट ज़रूर की। शेख़ साहब बेचारे दम साधे बैठे रहे। नवाब साहब भी डरे कि कहीं 'आतिश' क़राबीन न चला दें और नासिख़ या नवाब साहब की जान ही चली जाये। उन्होंने तत्काल दारोग़ा को हुक्म दिया और दोनों शायरों को ख़िलअत देकर विदा किया गया।

नवाब सैयद मुहम्मद 'रिंद' एक प्रतिष्ठित परिवार से सम्बन्ध रखते थे। वे एक साहिब-ए-दीवान शायर और 'आतिश' के प्रिय शागिर्दों में गिने जाते थे। एक बार किसी बात से रुष्ट होकर आतिश को छोड़कर नासिख़ के पास शागिर्द बनने पहुँच गये। नासिख़ के लिए आतिश को लज्जित करने का यह अच्छा अवसर था। लेकिन वे एक

उच्चाशय और शालीन व्यक्ति थे। ऐसा न कर सके। कहा, 'आप दस बरस से ख़्वाज़ा साहब से इस्लाह लेते आये हैं। आज उनसे यह हाल है तो मैं क्या उम्मीद करूँ ? शायद फिर आप उनकी कुछ सहायता भी करते होंगे जब यह सिलसिला बंद हो जायेगा तो दु;ख कौन उठायेगा ?' इसके बाद 'बर्क़' से, जो 'रिंद' को लेकर आये थे, कहा कि आप ही दोनों में सफ़ाई करवा दीजिए। नासिख़ के आग्रह से दोनों में फिर से मधुर संबंध स्थापित हो गये।

नासिख़ की मृत्यु का समाचार मिला तो बहुत दुःखी हुए। कहा जाता है कि चीख़ मार कर रोये और इसके बाद शे'र कहना बंद कर दिया। सम्भव है कि इस बात में अतिशयोक्ति हो। लेकिन प्रतिद्वंद्वी के अभाव में शायरी के उत्साह और एक-दूसरे पर चोट करने वाली सरगर्मियों का कम हो जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

नासिख़ के आत्मीयजनों के क्रम में एक और महत्वपूर्ण व्यक्तित्व का उल्लेख कर देना मुनासिब होगा। वे हैं ग़ालिब देहलवी। ग़ालिब जब अपनी पेंशन का विवाद निबटाने के लिए कलकत्ता रवाना हुए तो १८२७ ई. में कुछ अरसे के लिए लखनऊ में भी रुके। वे नासिख़ के महत्त्व को पहले से जानते थे। नासिख़ इस समय लखनऊ में विद्यमान थे। वैसे, नासिख़ और ग़ालिब के साक्षात्कार का कोई हवाला कहीं नहीं मिलता है। लेकिन यह बात असम्भव प्रतीत होती है कि दोनों के बीच मुलाक़ात न हुई हो। इसलिए भी कि ग़ालिब आर्थिक सहयोग की आशा लेकर लखनऊ पहुँचे थे। बादशाह तक पहुँचने की सीढ़ी आग़ा मीर थे जो तत्कालीन वज़ीर आज़म थे। नासिख़ और आग़ा मीर के सम्बन्ध भी उस समय अच्छे ख़ासे थे। इसलिए यह बात विश्वसनीय नहीं लगती कि नासिख़ ने ग़ालिब की आर्थिक समस्या के समाधान में कोई कसर छोड़ी होगी। लेकिन ग़ालिब आग़ा मीर से नहीं मिल सके। यदि उन्होंने नासिख़ को माध्यम नहीं बनाया तो आश्चर्य की बात है और माध्यम बनाने के बाद भी भेंट न हो सकी तो घोर आश्चर्य की बात है। ग़ालिब नवम्बर १८२९ ई. में दिल्ली वापस पहुँचे। इस समय नासिख़ एक निर्वासित के रूप में जीवन व्यतीत कर रहे थे। प्रमाणों के आधार पर, कई वर्ष तक नासिख़ और ग़ालिब की भेंट का पता नहीं चलता है। लेकिन ग़ालिब की दृष्टि निरंतर लखनऊ की ओर टिकी रही। अंततः उन्होंने २ अगस्त, १८३४ को एक छोटा दीवान और पत्र नासिख़ को लखनऊ प्रेषित किया। सूचनाओं के आधार, यही पहला पत्र है जो उन्होंने नासिख़ को लिखा। दीवान के साथ उन्होंने एक शायर के रूप में नासिख़ की गुणवत्ता पर केन्द्रित एक संक्षिप्त लेख भी प्रेषित किया। जिसमें से

अतिशयोक्ति के अंश निकाल भी दिये जायें तो भी ध्यान देने योग्य पर्याप्त सच्चाई शेष रह जाती है। नासिख़ के लिए लिखते हैं कि : दर सुख़न तरह नवी रेख़्ता ओ अस्त व दर रेख़्ता नक़्श बदीअ अंगेख़्ता ओ।

इसके बाद उनके और ग़ालिब के बीच निरंतर पत्र-व्यवहार का पता चलता है जिसका क्रम नासिख़ के निधन के साथ ही समाप्त होता है। नासिख़ के नाम ग़ालिब के अनेक पत्र उनके फ़ारसी गद्य-संग्रह में उपलब्ध होते हैं। कहीं-कहीं नासिख़ की शायरी और कमाल के सम्बन्ध में ग़ालिब की राय झलकती है। इसके विपरीत ग़ालिब के प्रति नासिख़ का कोई कथन या शे'र प्राप्त नहीं होता है। नासिख़ ने जवाब में या फ़र्मायश करने पर अपना दीवान भी ग़ालिब को प्रेषित किया था। जिसकी रसीद के रूप में ग़ालिब ने ये उद्‌गार व्यक्त किये :

कुल्ज़ुम मानी रा सफ़ीना अस्त व जवाहर मज़्मून रा गंजीना,
सुख़न बरोज़गार मख़्दूम बा पाया-ए-बुलंद रसीदो उर्दू रा रौनक़ दीगर पदीद आमद।[१]

ग़ालिब अपनी आर्थिक कठिनाइयों के सम्बन्ध में भी नासिख़ को लिखते रहते थे। शायद इसी कारण नासिख़ ने उन्हें दक्षिण जाने का परामर्श दिया था। लेकिन उन्होंने यह आपत्ति लिख भेजी कि जहाँ 'क़तील़ को उस्ताद समझा जाता हो वहाँ ग़ालिब का क्या काम और जहाँ उर्दू में शाह नसीर जैसे शायर की तारीफ़ होती हो वहाँ नासिख़ का क्या काम ? एक मुकदमे के सिलसिले में ग़ालिब के ऊपर डिगरी हुई तो नासिख़ ने इसका हाल भी उनसे मालूम किया और पता चलता है कि नासिख़ ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस प्रकरण में उनकी सहायता की। तभी तो ग़ालिब, नासिख़ को लिखते हैं :

मता-ए-मरा बाईं हमा ना रवाई ख़रीदारे, व मरा बाईं हमा ना किसी गमख़्वारे-बेख़्वास्त बर ज़बान बर आयद कि जान फ़िदायश बाद।[२]

---

१. दरिया का अर्थ नाव के कारण है, जवाहरात इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि इनसे ख़ज़ाना बनता है और उर्दू शायरी का महत्त्व इसलिए है कि नासिख़ जैसे प्रतिष्ठित शायर ने अपने एक-एक शब्द से अर्थ की छटा उत्पन्न कर दी है।

२. मेरी जिंदगी एक ऐसी दौलत है जिसका कोई खरीदार नहीं और कोई मेरे ग़म पर अफ़सोस ज़ाहिर नही करता, ऐसे में ज़ुबान पर बेसाखत़ यह जुम्ला आता है कि जिदंगी को तो मिटना ही है।

इन पंक्तियों का भावार्थ उनकी विशेष मनः स्थिति का बोध करा देता है। नासिख़ और ग़ालिब के बीच हुए फ़ारसी-पत्र व्यवहार का ध्यानपूर्वक अवलोकन किया जाय तो इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि ग़ालिब में नासिख़ के प्रति अतिशय कृतज्ञता का भाव था। ग़ालिब ने जो पत्र नासिख़ को लिखे हैं उनमें तो अपनी ज़रूरतों और मज़बूरियों का ज़िक्र किया ही है, इसके अलावा उन्होंने दूसरी लोगों से आपसी बातचीत में मौखिक तौर पर नासिख़ के व्यक्तित्व और शायरी की प्रशंसा भी की है। इस सामग्री का विश्वसनीय और वस्तुनिष्ठ होना स्वाभाविक है।

शेख अमीरुल्लाह 'सुरूर' को लिखते हैं :

"मैंने मिर्ज़ा हैदर अली 'अफ़सह' को फ़र्द[1]-ए-कामिल[2] पाया। उनकी रोशन पसंदीदा और तर्ज़ मुंतख़ब[3] है और यही शेवा[4] मुकर्रमी शेख़ इमाम बख़्श 'नासिख़' और ख़्वाजा हैदर अली 'आतिश' और दीगर ताज़ा ख़्यालाने-लखनऊ[5] का है।"

—कुल्लियात-ए-नस्र, १२५

हातिम अली 'महर' को लिखते हैं :

"नासिख़ मरहूम जो तुम्हारे उस्ताद थे मेरे भी दोस्त सादिकुल विदाद[6] थे।"

—ख़ुतूत-ए-ग़ालिब-महर, ४४५

ग़ालिब ने एक क़सीदा रोशन उद्दौला के माध्यम से नसीरुद्दीन हैदर की ख़िदमत में भेजा। यह क़सीदा बादशाह के सामने पढ़ा गया। सुनाने वाले मीर 'ज़मीर' थे। इस पर पाँच हज़ार रुपया इनाम में मिला। यहाँ लागों ने साज़िश करके पूरा इनाम ख़ुर्द-बुर्द कर दिया। ग़ालिब को इनाम मिलने की सूचना प्राप्त हुई और न पहुँचने का आश्चर्य हुआ। उन्होंने नासिख़ को लिखा कि आप विस्तृत विवरण लिख कर भेजिये। नासिख़ ने जवाब में कहा कि पाँच हज़ार रुपये मिले थे। तीन हजार रोशन उद्दौला खा गये और दो हजार मुंशी मुहम्मद हुसैन को, जो क़सीदा लाये थे, दिये और कहा कि जो मुनासिब हो ग़ालिब को भेज दो। ग़ालिब का कहना था मुझे कुछ नहीं मिला। नासिख़ ने जवाब मे फिर लिखा कि 'अब आप मुझे ख़त

---

१. व्यक्ति २. सक्षम ३. चुनी हुई ४. ढंग ५. नये विचारों वाले लोग
६. सच्चे मित्र

लिखिये जिसका मज़्मून यह हो कि मैंने बादशाह की तारीफ़ में क़सीदा भेजा और मालूम हुआ कि वह क़सीदा उनके सामने पेश किया गया। लेकिन यह मालूम नहीं हुआ कि इसका सिला क्या दिया गया। मैं कि नासिख़ हूँ, अपने नाम का ख़त बादशाह को पढ़वाकर उनका (रोशन उद्दौला) का खाया हुआ रुपया उनके हलक़ से निकाल कर तुमको भेज दूँगा।' ग़ालिब की बदक़िस्मती कि इधर उन्होंने ख़त रवाना किया और उधर ख़बर उड़ी कि नसीरुद्दीन हैदर ने इंतक़ाल किया। 'अब कहो, मैं क्या करूँ और नासिख़ क्या करे ?'

— 'तफ़्ता' के नाम पत्र, ख़ुतूत-ए-ग़ालिब-महर, १९०

नसीरुद्दीन हैदर की मृत्यु ८ जुलाई, १८३७ को हुई। यह सारा पत्र-व्यवहार इसी ज़माने में हुआ होगा। इसके बाद ग़ालिब अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सके। रोशन उद्दौलाा की सेवाएँ समाप्त कर दी गईं। हकीम महदी वज़ीर हो गये और नासिख़ को निर्वासन का दण्ड मिला। सफ़ीर बिलगरामी की मान्यता है कि ग़ालिब ने नासिख़ के भाषा प्रयोग को सराहते हुए एक संक्षिप्त टिप्पणी की थी, "नासिख़ के यहाँ कमतर, आतिश के यहाँ बेशतर ये तेज़ नश्तर हैं।" (जल्वा-ए-ख़िज़्र, २३४/१)

इस कथन से अनुमान होता है कि नासिख़ की शायरी के सम्बन्ध में ग़ालिब की राय बहुत ही उपयुक्त और समीचीन थी। ग़ालिब के दीवान में दूसरे शायरों के मिसरे पर तज़्मीन[1] न के बराबर मिलेगी। लेकिन उन्होंने नासिख़ के मिसरे पर तज़्मीन की है :

'ग़ालिब' अपना ये अक़ीदा है बक़ौल-ए-नासिख़
आप बेबहरा है जो मोतक़द-ए-मीर नहीं

उर्दू साहित्य के इतिहास में नासिख़ के शागिर्दों की संख्या भी एक मिसाल कही जा सकती है। मुसहफ़ी, आतिश और नासिख़ उन उस्तादों में हैं जिनके शागिर्दों की संख्या की कोई तुलना नहीं मिलती। हालाँकि आज़ाद (आब-ए-हयात, ३९८) ने यह लिखा है कि आतिश ने जितने शागिर्द पाये, किसी उस्ताद को नसीब नहीं हुए। इस सिलसिले में कोई ठोस प्रमाण तो नहीं मिलते लेकिन अनुमान होता है कि आतिश की तुलना में मुसहफ़ी के शागिर्द ज़्यादा रहे होंगे और नासिख़ के

१. किसी दूसरे शायर के मिसरे पर अपना मिसरा या बंद लगाना। इस शे'र में दूसरा मिसरा नासिख़ का है।

शागिर्दो की संख्या दोनों से ऊपर रही होगी। १८२४ ई. तक यही स्थिति रही होगी जब तक कि मुसहफ़ी जीवित थे। आतिश के शागिर्दो का कम होना स्वाभाविक है। नासिख़ के शागिर्द काफ़ी पहले से उभरने लगे थे। फिर नासिख़ ने लखनऊ से बाहर भी अनेक शागिर्द बनाये। नासिख़ के कितने शागिर्द थे, इसका पता तो शायद कभी न चल सके। जिन लोगों को किसी इतिहास या वृत्तांत में जगह मिल गई, अभी उनके नाम भी सामने नहीं आ सके हैं। 'न मालूम कितनी सूरतें होंगी कि ख़ाक में पिन्हाँ हो गईं'[1] और अब उनका कोई सुराग़ भी नही मिल सकता। यदि थोड़ी-सी जिज्ञासा हो तो विशेष कष्ट उठाये बिना उनके सौ से अधिक शागिर्दों की पहचान की जा सकती है। यह जिज्ञासा और खोज एक स्थायी महत्त्व का कार्य है, यहाँ तो उपलब्ध सूची देना भी सम्भव नहीं है। यहाँ केवल उनके नाम दिये जा रहे हैं जो स्वयं उस्तादों की श्रेणी में आते हैं। इनमें मीर अली औसत 'रश्क', इम्दाद अली बहर, मुहम्मद मिर्ज़ा उंस, महदी हुसैन आज़ाद, मिर्जा महदी क़बूल, फ़क़ीर मुहम्मद ख़ाँ गोया, आग़ा हुसैन अमानत, मिर्ज़ा हातिम अली महर, कल्ब हुसैन ख़ाँ नादिर, ख़्वाजा वज़ीर, मिर्ज़ा जाफ़र अली फ़सीह, दिलगीर, मुहम्मद रज़ा बर्क़, इस्माईल हुसैन मुनीर शिकोहाबदी आदि शामिल हैं।

समग्रतः नासिख़ के शागिर्द उसी परिपाटी पर शायरी करते रहे जो कि नासिख़ ने निश्चित कर दी थी। अधिकांश ऐसे हैं जो अपने उस्ताद का पिष्ट-पेषण करते दिखाई देते हैं। इनमें से कई ऐसे हैं जिन्होंने नासिख़ की इस्लाहों को क़ानून का दर्जा देने की कोशिश की। हालाँकि उनकी मृत्यु के बाद उनके शागिर्दों का साहित्यिक अस्तित्व धीरे-धीरे समाप्त होने लगा। जिसका कारण उनका व्यक्तिवाद था। लेकिन उनके शागिर्द अपनी निजी पहचान क़ायम करने में असफल रहे। यह अवश्य है कि इनके प्रयासों से शायरी का एक नया स्कूल अस्तित्व में आ गया जिसे 'नासिख़ स्कूल' कहा जाता है। अधिकांश शागिर्द उनकी मृत्यु के बाद खिन्न और उदास रहे। कारण, उनकी अदबी पनाहगाह बाक़ी न रही थी। यह भी नासिख़ के प्रभावशाली व्यक्तित्व का प्रतीक है।

'बर्क़' कहते थे :

---

१. ग़ालिब का एक मिसरा है—ख़ाक में क्या सूरतें होंगी कि पिन्हाँ हो गईं। अर्थात् अतीत की विस्मृति में गुम सूरतों को पहचानना मुश्किल है।

"मुझ नालायक़ ने बादशाह (वाजिद अली शाह) की सुहबत अख़्तियार करके अपने फ़न को ज़लील किया। मुझको तो चाहिए था कि शेख़ साहब की क़ब्र पर बैठ रहता।"

– उर्दू-ए-मुअल्ला , १९१३

कुछ शागिर्दों ने अपनी रचनाओं में भी नासिख़ के प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता के भाव को व्यक्त किया है :

हो मतानत[1] शे'र में अपने न क्यूँ कर ऐ 'सहर'
मुद्दतों सुहबत उठाई नासिख़-ए-मग़्फ़ूर[2] की

– अमान अली 'सहर'

ऐ 'मसीहा' क्यों न हो बेरंग बस्तान-ए-सुख़न[3]
हेफ़[4] दुनिया से जनाब-ए-नासिख़-ए-अशआर[5] उठा

– मुहम्मद अली 'मसीहा'

बस है तक़्लीद[6] को ऐ 'रश्क' कलाम-ए-नासिख़
क़ौल-ए-उस्ताद[7] भी उस्ताद है उस्ताद के बाद

– अली औसत 'रश्क'

१. गम्भीरता २. उन्मुक्त व्यक्तित्व वाला नासिख़ ३. शायरी रूपी उपवन ४. अफ़सोस
५. अच्छे-बुरे का भेद बताने वाला नासिख़ ६. अनुसरण ७. उस्ताद का कथन

दूसरा अध्याय

(१)

नासिख़ अपने बाद एक विपुल साहित्यिक विरसा छोड़ गये हैं। उनका एक कुल्लियात[1] है जिसमें दो बड़े और एक संक्षिप्त दीवान, व्यक्ति विशेष पर लिखी रचनाएँ, रुबाइयाँ, प्रशंसात्मक क़त्ए और तारीख़ी क़त्ए भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। एक लम्बी मस्नवी 'सिराज-ए-नज़्म' अलग से पुस्तकाकार प्रकाशित है तीन और मस्नवियाँ हैं जो नासिख़ की लिखी बताई जाती हैं, यथा – मस्नवी में राज, मस्नवी शहादत नामा आल नबी, मस्नवी मौलिद रसूल मुख़्तार । इन रचनाओं के अतिरिक्त एक रिसाला 'क़ाफ़िया' के रचनाकर भी नासिख़ ही बताये जाते हैं।

शे'रों के कुल्लियात के कई संस्करण छप चुके हैं। अलग-अलग दीवानों की हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी, जो बड़े साहित्यिक महत्त्व की हैं, भारत और पाकिस्तान के विभिन्न पुस्तकालयों में बड़ी संख्या में मिलती हैं । लोगों के निजी संग्रह में भी ये पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं । यह अनुमान होता है कि उर्दू के किसी भी शायर की इतनी अधिक हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध नहीं होंगी। इसका कारण यह था कि वे स्वयं अपनी रचनाओं की प्रतिलिपियाँ भेंट स्वरूप दिया करते थे। बहुत से क़द्रदान खुद भी प्रतिलिपियाँ हासिल कर लिया करते थे। इसके अतिरिक्त दूसरे शहरों और आसपास के साहित्य प्रेमी दीवान-ए-नासिख़ को एक मूल्यवान उपहार समझते थे । इस दीवान को पढ़कर कला के पारखी लोग शायरी के नये रंग से परिचय प्राप्त करते थे । वे इसे उर्दू भाषा के काव्य-मय प्रयोग का प्रतिमान समझते थे और इससे लाभान्वित होते थे । उनका दीवार महज़ शे'रों का संग्रह नहीं बल्कि एक पाठ्यपुस्तक के रूप में स्वीकार किया जाता था।

उनके कुल्लियात का पहला प्रकाशन उनकी मृत्यु के बाद १८४२ ई. में हुआ। इसे मुहम्मदी छापाख़ाने के मालिक मीर हसन रिज़्वी ने प्रकाशित किया। इसके

१. समग्र रचनाएँ

प्रकाशन की समूची व्यवस्था और देख-रेख उनके प्रिय शागिर्द 'रश्क' ने की ।

कुल्लियात में तीन दीवान सम्मिलित हैं। यद्यपि ऊपर से देखने पर यह प्रतीत होता है कि इसमें दो दीवान होंगे। उनके पहले दीवान का नाम 'दीवान-ए-नासिख़' है जो कि एक तारीख़ी नाम है। नासिख़ के शागिर्द मियाँ ग़नी ने तारीख़ों का हिसाब लगाकर इस दीवान का नामकरण किया । यह दीवान १२३२ हिजरी (१८१६-१७ ई.) में सम्पादित हुआ। उनके दूसरे दीवान का नाम 'दफ़्तर-ए-परीशान' है जो स्वयं नासिख़ का रखा हुआ है और विशेष रूप से इसमें ग़ज़लें संगृहीत हैं। ये गज़लें निर्वासन-काल और यात्राओं के दौरान लिखी गई थीं। यह दीवान १२४७ हिजरी (१८३१-३२ ई.) में सम्पादित हुआ याने अभी नासिख़ निर्वासित होने के बाद लखनऊ नहीं लौटे थे।

नासिख़ के तीसरे दीवान का नाम 'दफ़्तर-ए-शे'र है जो उनके योग्य शिष्य 'रश्क' का रखा हुआ है। यह नाम भी तारीख़ी है और इसके अक्षरों से १२५४ हिजरी तदनुसार १८३८-३९ ईसवी तिथि प्राप्त होती है। लेकिन इसकी रचनाएँ निश्चित रूप से १८३८ ई. में एकत्र कर ली गईं थी क्योंकि इसी वर्ष नासिख़ की मृत्यू हुई। यह दीवान उनके जीवन-काल में ही सम्पादित कर लिया गया था। कलेवर की दृष्टि से भी यह दीवान छोटा है। नासिख़ के इस दीवान की पृथक् पाण्डुलिपियाँ भी उपलब्ध है, इनकी संख्या कम ही है। नासिख़ का तीसरा दीवान लम्बे अरसे तक शोध सम्बंधी भ्रांतियों का शिकार रहा और यह माना जाता रहा कि नासिख़ ने सिर्फ़ दो दीवान ही छोड़े हैं। लेकिन सारी भ्रांतियाँ कुल्लियात (प्रथम संस्करण) के समापन अंश को पढ़ने पर दूर हो जाती हैं। इसकी प्रविष्टियों से ज्ञात होता है कि 'रश्क' ने संक्षिप्त होने के कारण तीसरे दीवान की रचनाओं को भी दूसरे दीवान में ही रदीफ़वार सम्मिलित कर प्रकाशित करा दिया। इस प्रकार, देखने में तीन के बजाय दो दीवान ही रह गये । 'रश्क' के इस कार्य को उचित नहीं कहा जा सकता। यदि तीसरे दीवान की पाण्डुलिपि अलग से उपलब्ध न होती तो यह पता लगाना ही असम्भव था कि नासिख़ के दूसरे दीवान की हर रदीफ़ में कहाँ दीवान-ए-दोम (दूसरा) समाप्त होता है और कहाँ से तीसरा दीवान शुरू होता है। इस भीतरी प्रमाण के बाद तीसरे दीवान के अस्तित्व में कोई संदेह नहीं रह जाता। लेकिन तीसरा दीवान नासिख़ के जीवन-काल में ही सम्पादित हो गया था। 'रश्क' इसे सम्पादित करने वाले नहीं थे बल्कि इसका तारीख़ी नाम रखने वाले थे। इस बात

के प्रमाणस्वरूप प्रकाशित कुल्लियात और दूसरे दीवान की पाण्डुलिपि में संकलित यह शे'र ही पर्याप्त होगा, जिससे यह सिद्ध होता है कि यह तीसरे दीवान का अंश है :

फिर कि मेहबूब-ए-मानीफ़हम[१] से उल्फ़त हुई
फिर नया दीवान 'नासिख़' का मुरत्तिब[२] हो गया

'रश्क' की व्यवस्था और देख-रेख में प्रकाशित कुल्लियात का पहला संस्करण हर स्थिति में बाद को छपे हुए संस्करणों से बेहतर है। फिर भी इसमें किताबत की गलतियाँ रह गई हैं। 'रश्क' को इसके साथ सात पृष्ठ का शुद्धि-पत्र लगाना पड़ा। इस बात का भी संदेह है कि 'रश्क' ने प्रकाशन के समय कुछ शब्दों में रद्दो बदल भी की है। सम्भव है 'रश्क' के सामने उस समय स्वयं नासिख़ के द्वारा देखी और शुद्ध की गई कोई हस्तलिखित पाण्डुलिपि रही हो अर्थात् उसमें शायर ने ऐसे संशोधन किये हो जिनकी आमतौर पर लोगों को जानकारी न हो। 'रश्क' के इस शुद्धि-पत्र के बाद भी कुल्लियात में कुछ न कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिनका उल्लेख शुद्धिपत्र में नहीं है। कुल्लियात में शामिल विधाओं का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है ।

क़सीदा निगारी

नासिख़ का कवि-व्यक्तित्व और उनका दौर क़सीदा निगारी के लिए बहुत उपयुक्त था। उनके युग में मुसहफ़ी, इंशा, शाह नसीरुद्दीन शहीदी, ग़ाफ़िल, गोया, ज़की मुरादाबादी, ज़ौक और ग़ालिब ने श्रेष्ठ कोटि के ओजपूर्ण क़सीदों की विपुल मात्रा में रचना की । इसमें यह एक आश्चर्य की बात लगती है कि नासिख़ और उनके प्रतिद्वंद्वी आतिश ने क़सीदा निगारी में कोई नाम नही कमाया। आतिश तो खैर सूफ़ी मिज़ाज थे और दुनिया के झगड़ों से अपने को अलग रखते थे। नासिख़ दुनियादारी की कला से सुपरिचित थे और उनके सभी वृतांतकारों ने यह बात स्वीकार की है नासिख की प्रकृति क़सीदा निगारी के अनुकूल थी । यहाँ तक कि उनकी ग़ज़लों पर भी मुख्य रूप से यही आरोप लगाया जता है कि ये क़सीदानुमा प्रतीत होती हैं। लेकिन उनके कुल्लियात में कोई भी रचना ऐसी नहीं है जिसे क़सीदे की शास्त्रीय परिभाषा के अंतर्गत रखा जा सके। इमाम महानुभावों की प्रशंसा में जो

१. शायरी के अर्थ को समझने वाला २. सम्पादित

कुछ मिलता है, वह क़सीदा नहीं है। बल्कि इन रचनाओं की हैसियत स्तुतिपरक नज़्मों की है। अमीरों की शान में भी प्रशंसात्मक क़त्ए बहुत हैं लेकिन इन्हें क़सीदा नहीं कहा जा सकता। आग़ा मीर के लिए आलकारिक भाषा में लिखे गये तिरेसठ शे'र क़सीदे की शास्त्रीय परिभाषा के अंतर्गत नहीं आते हैं। शायद उनका लेखकीय अहं और स्वाभिमान क़सीदा निगारी के बीच आड़े आया । फिर भी दीन के बुज़ुर्ग लोगो की प्रशंसा में अपनी हैसियत के अनुसार क़सीदे लिखने में उन्हे क्या संकोच हो सकता था ? लखनऊ विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में मुनीर शिकोहाबादी की एक कृति 'सनान-ए-दिलख़राश' की हस्तलिखित पाण्डुलिपि मौजूद है। जिसकी पाद-टिप्पणियों में यह बात लिखी है कि नासिख़ जब इलाहबाद पहुँचे तो उनके पास क़सीदों का एक संग्रह था। जिसमें ९८ क़सीदे मौजूद थे। ये क़सीदे बुरे लेख में लिखे हुए थे और एक बस्ते में रखे रहते थे। इन क़सीदों में कुछ अमीरों के निंदा-प्रसंग भी थे । एक जाली शागिर्द उनके पास आया । उसने ये क़सीदे उन अमीरों तका पहुँचा दिये जिनका कि इनमें नामोल्लेख था । इसके बाद मालूम नहीं हुआ कि ये क़सीदे कहाँ गये और इनका क्या हश्र हुआ ।

तारीख़ गोई[१]

अतीत की प्राचीन भाषाओं में भी महत्त्वपूर्ण घटनाओं और जीवन-वृत्त की तारीख़ निकालने का प्रचलन था। उर्दू में भी शायरी के विकास की परम्परा के साथ-साथ तारीख़गोई का रिवाज दिखाई देता है। उर्दू में अरबी के प्रभाव से कम तथा फ़ारसी के प्रभाव से अधिक तारीख़ गोई का प्रचलन हुआ। क्योंकि प्रत्येक वर्ण की एक विशेष संख्या निश्चित है इसलिए ऐसे शब्दों का चयन किया जाता है जिनके वर्णांकों का योग उस वर्ष के अनुरूप हो जिसमें कि वह घटना घटित हुई हो। तारीख़ कहने का ध्येय यही है। ऐसे शे'रों की रचना करना, जिनमें अर्थ की गहराई भी हो और एक निश्चित तारीख़ भी हो, शायरी का कमाल समझा जता है। साहित्यिक मूल्य के अलावा भी तारीख़ निगारी (Chronogram) के महत्त्व और लाभों को नकारना सम्भव नहीं है। मध्यकाल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के इतिहास के लेखन में तारीख़ गो शायरों द्वारा उपलब्ध कराई गई सामग्री से बहुत काम लिया गया है। भारतीय इतिहास की अनेक घटनाओं तथा कुछ महत्त्वपूर्ण

१. किसी घटना की तिथि को शे'र के माध्यम से व्यक्त करना।

व्यक्तियों के जन्म एवं मृत्यु की सूचनाओं को पाने का एक मात्र स्रोत कभी-कभी वे तारीखें बन जाती हैं जिन्हें कोई शायर लिख जाता है। उर्दू में धीरे-धीरे इस कला ने एक स्वतंत्र विधा के रूप में अपनी पहचान क़ायम कर ली। विशेष रूप से उन्नीसवीं शताब्दी में यह शौक अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था। इसके बाद तारीख़ निगारी में अलंकारों के प्रयोग की परिपाटी चल पड़ी जिससे मूल ध्येय को कोई लाभ नही पहुँचा। लेकिन शायरों की मेहनत, हमदर्दी, जी तोड़ कोशिश और योग्यता का अंदाज ज़रूर होता है।

नासिख़ रियाज़ को पसंद करने वाले शायर थे। इसलिए तारीख़ गोई के प्रति स्वाभाविक रूप से झुकाव रखते थे। उन्होंने लगभग अपनी शायरी के साथ ही तारीख़ गोई की शुरूआत की । उनकी यह रुचि जीवन के अंतिम क्षणों तक बनी रही। उनके कुल्लियात में बड़ी संख्या में तारीखें मौजूद हैं। इनमें से अनेक तारीख़ों में भाषा एवं भाव की नवीनता लक्षित होती है। कुछ तारीखें महत्वपूर्ण घटनाओं पर हैं और कुछ मामूली घटनाओं पर। अन्य बहुत-सी बातों के अतिरिक्त स्वयं नासिख़ की जीवनी के संदर्भ में इन तारीख़ों का विशेष महत्त्व है। नासिख़ के जीवन की अनेक घटनाएँ और तिथियाँ स्वयं उनकी कही हुई तारीख़ों से मालूम होती हैं। प्रस्तुत पुस्तक में भी बहुत-से विवरण इन्हीं तारीखों की सहायता से दिये गये हैं । यह पता ही न चलता की नासिख़ ने कितनी उम्र पाई, यदि उनकी मृत्यु पर 'रश्क' का कहा यह क़त्आ प्राप्त न होता :

वा दरीग़ा कुर्द रहलत नासिख़-ए-मो'जिज़ बयाँ
इंताक़ालश दाद आलम-राग़म-ए-जाँ काह वाए
यक हज़ारो दो सदो पंजाह व चा साल बूद
अज़ मुहर्रम बूद माह-ए-पंजमीं आँ माह वाए
'रश्क' रोज़-ए-मर्ग-ओ-तारीख़ो-सनीं व माह गुफ़्ता
बूद पंजुम बस्त-ओ-चारम पंज शुबा आह वाए[1]

---

१. कितने दुःख का विषय है कि नासिख़ जैसे शायरी में चमत्कार दिखाने वाले शायर का निधन हो गया। उनके विदा होने पर सारा संसार ग़म में डूबा हुआ है। जब उनकी मृत्यु हुई १२५४ हिजरी सन था, मुहर्रम का महीना और पाँचवीं तारीख़ थी और पजशुंबा (जुमेरात) का दिन था। 'रश्क' ने उनकी मृत्यु पर यह तारीख़ कही।

नासिख़ उस्ताद-ए-'रश्क' हसरत उम्र
बुर्द ए है ब साल-ए-शस्त-ओ-नहम
'रश्क' तारीख़-ए-इंतक़ालश नोश्त
मुर्द ए है ब साल-ए-शस्त-ओ नहम[1]

इन तारीखों से न सिर्फ़ उनकी जन्म-तिथि का अनुमान लगाया जा सकता है बल्कि उनकी मृत्यु के दिन, दिनांक, माह और वर्ष सबका ज्ञान हो जाता है।

नासिख़ ने इस कला के अच्छे नमूने तो छोड़े ही हैं, साथ-साथ लोगों को इस कला की ओर प्रवृत्त करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उनके शागिर्दों में शायद ही कोई ऐसा हो जो तारीख़ गोई में रुचि न रखता हो। 'रश्क' तो तारीख़ कहने में अपने उस्ताद के समकक्ष हो गये थे ।

नज़्म तबातबाई ने मालिकुद्दौला सोलत से सम्बंधित एक लेख लिखा है। इसमें उन्होंने सोलत की तारीख़ गोई के क्षेत्र में नासिख़ और उनसे जुड़े शायरों के योगदान की चर्चा भी की है। उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि वे जब १८७२ ई. में लखनऊ आये तो उन्होंने देखा कि यहाँ नासिख़ के प्रभाव के कारण मुशायरों में पढ़ी जाने वाली ग़ज़लों के मत्ले तारीख़ी हुआ करते थे।

– रिसाला अदीब, मई १९१३

नज़्म तबातबाई का ही कथन है कि आतिश ने कभी तारीख़ नहीं कही। नासिख़ की कही हुई तारीख़ों का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। यहाँ नमूना देने की आवश्यकता महसूस नहीं होती । विस्तार के लिए उनके कुल्लियात का अवलोकन किया जा सकता है। यहाँ एक उादहरण ही पर्याप्त होगा :

शुद ज़ जहाँ मीर मुहम्मद तक़ी
'दाग' ज़ बेमहरी अहल-ए-जहाँ
नासिख़ तारीख़ वफ़ातश नोश्त
वावैला मुर्द शह-ए-शायराँ[2]

– १२२५ हिजरी, १८१० ईसवी

---

१. रश्क के उस्ताद नासिख़ की उम्र पर हसरत करो। वे उनहत्तर वर्ष जिये। रश्क ने उनके निधन की तारीख़ कही कि वे उनहत्तर वर्ष के होकर मरे।

२. इस दुनिया से 'मीर' गुज़र गये और इसी तरह 'दाग़' भी जुदाई का दाग़ दे गये अर्थात् विदा हो गये। नासिख़ उनकी मौत की तारीख़ कहता है। हाय अफ़सोस है कि शायरों का बादशाह नहीं रहा।

रुबाई

प्रकट रूप में नासिख़ ने रुबाई विधा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उन्होंने बहुत कम रुबाइयाँ लिखी हैं। अर्थवत्ता की दृष्टि से भी उनकी रुबाइयाँ इतनी सशक्त नहीं है कि उर्दू के अच्छे रुबाई निगारों से भी इनका मुकाबला किया जा सकता। उनके कुल्लियात में साठ-पैंसठ से ज्यादा रुबाइयाँ नहीं हैं। उनकी हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में कुछ अप्रकाशित रुबाइयाँ मिलती हैं।

शायरी के काव्य-रूपों में रुबाई कला को बहुत कठिन समझा जाता है । इसमें अर्थ के अनुरूप शब्द-चयन तथा छंद की बारीकियों पर असाधारण अधिकार होना चाहिए। साथ ही अभ्यास की भी अपेक्षा है। यह क़त्आ विधा की भाँति सरल नही है। बहुत-से ग़ज़ल गो शायरों ने अच्छी शायरी करने के बाद इस विधा में रचना के प्रयास नहीं किये। यदि किये भी हैं तो बहुत कम। अतएव केवल नासिख़ ही नहीं, उर्दू के दूसरे शायरों ने भी रुबाई विधा में महत्त्वपूर्ण सृजन नहीं किया है। दरअसल इसका रहस्य यह है जो कुछ वे रुबाई में कहते, उसे वे पहले ही ग़ज़ल में व्यक्त कर चुके होते थे और शायद उनके लिए यह गवारा न था कि वे ग़ज़ल का पेट काटकर रुबाई की परवरिश करें। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ग़ज़ल गो शायरों की रुबाइयाँ उनकी ग़ज़लों के उच्छिष्ट हुआ करती थीं। नासिख़ की रुबाइयाँ भी उनकी ग़ज़लों की छीजन से अस्तित्व में आईं है। इसलिए उनके कला-कौशल को देखते हुए ये रुबाइयाँ दूसरे दर्जे की कही जा सकती है। इन रुबाइयों में नासिख़ के आम रंग से अलग यह बात ज़रूर है कि इनमें आलंकारिता और शादिक चमत्कार का ठाठ आमतौर पर नहीं है । अधिकांश रुबाइयों में सरल और प्रवाहपूर्ण भाषा का प्रयोग किया गया है। लेकिन विषय-बहुत की दृष्टि से इनमें रोचकता और मार्मिकता का तत्त्व नहीं है । इनमें यात्रा की कठिनाइयों का वर्णन मिलता है। अधिकांश रुबाइयों में भावों की नवीनता तो नहीं है, पर ये भाषा पर असाधारण अधिकार का अच्छा नमूना है। नमूने के तौर पर उनकी दो रुबाइयाँ प्रस्तुत हैं जिनमें नवीनता मौजूद हैं :

लेकर जो गया नामा हमारा क़ासिद[१]
क्या ज़िक्र-ए-जवाब खुद न आया क़ासिद
मुद्दत हुई इंतजार करते-करते
था उम्र-ए-गुज़िश्ता[२] शायद अपना क़ासिद

१. पत्र वाहक २. बीती हुई उम्र

सैलाब रवाँ है चश्म-ए-तर से हरदम
सोते नहीं इक आन शब-ए-हिज्र[१] में हम
किस तरह पलक से पलक लग जाय कभी
मिलते नहीं दरिया के किनारे बाहम[२]

इन रुबाइयों में भावों का मनोहारी चित्रण किया गया है लेकिन यह विशेषता बहुत कम रुबाइयों में दृष्टिगत होती है । कारण चाहे जो भी हों, चंद अच्छी रुबाइयों के आधार पर नासिख़ को इस विधा का बड़ा रचनाकार नहीं कहा जा सकता है। ये रुबाइयाँ उनके जीवन में आये अप्रत्याशित परिवर्तनों से उत्पन्न विचार-तरंगें हैं। न इनमें कोई दर्शन है, न भाव-प्रवणता और न चकाचौंध पैदा कर देने वाला शाब्दिक चमत्कार ।

उनके क़त्ओं की चर्चा बार-बार हो चुकी है। एक अलग शीर्षक के अंतर्गत इनकी चर्चा करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जो बातें उनकी रुबाइयों के विषय में कहीं गई हैं, वे ही बातें उनके ज़्यादातर क़त्ओं पर भी लागू होती हैं। इन क़त्ओं से जो ज़्यादातर प्रशंसात्मक हैं, उनके सामाजिक सम्बंधों तथा विभिन्न अमीरों के दरबारों और सम्भ्रांत लोगों के बीच उनकी प्रतिष्ठा का पता ज़रूर चलता है ।

मस्नवियाँ

नासिख़ की लिखी पाँच मस्नवियाँ बताई जाती हैं। इनमें से मस्नवी मौलिद शरीफ़ रसूल मुख़्तार की चर्चा प्रसिद्ध वृत्तांतकार मुहसिन अली ने अपने वृत्तांत 'सरापा सुख़न' में किया है। लेकिन न मुहसिन अली के अतिरिक्त कोई और विद्वान इसके अस्तित्व की सूचना देता है और न ही यह मस्नवी कहीं मिलती है। सम्भव है कि उन्नीसवीं शताब्दी में यह मस्नवी मौजूद रही हो और बाद में इस तरह नष्ट हो गई हो कि किसी को सुराग़ भी न लग सका हो। यह भी सम्भव है कि मुहसिन अली से ही भूल-चूक हो गई हो।

नासिख़ की मस्नवी 'मेराज' का भी लगभग यही हाल है। इसकी अधूरी पाण्डुलिपि की सूचना रशीद हसन ख़ाँ के लेख (रिसाला उर्दू, कराची, १९०८ ई.) के माध्यम से प्राप्त हुई थी । शीर्षक से ही स्पष्ट होता है कि यह पाण्डुलिपि अपूर्ण है। उपलब्ध पन्नों के आधार पर शे'रो की संख्या ३४५ है। परिशिष्ट से पता चलता है

---

१. वियोग की रात २. परस्पर

कि इसे १२५९ हिजरी (१८४३ ई.) याने नासिख़ की मृत्यु के कई वर्ष बाद तैयार किया गया था।

यदि यह मस्नवी जैसा कि परिशिष्ट में कहा गया है, नासिख़ की लिखी हुई है तो यह उनके आरम्भिक़ दौर की यादगार होगी जबकि उन्होंने शिया धर्म ग्रहण नहीं किया था। ऐसा इसलिए कि मस्नवी में शिया मत विरोधी बातें मिलती हैं और शायद इसी कारण नासिख़ ने इस मस्नवी को नज़र अंदाज़ कर दिया हो और उनके नज़दीकी लोगों को भी इस बात का पता न चल सका हो ।

उनकी तीसरी मस्नवी 'शहादत नामा आल-ए-नबी' है। इस नाम की एक मस्नवी नवल किशोर प्रेस से कई बार छप चुकी है। इसका तीसरा संस्करण अप्रैल १८८८ ई. में प्रकाशित हुआ । इस मस्नवी का विषय इसके शीर्षक से स्पष्ट होता है। इसमें कर्बला की घटनाओं का वर्णन किया गया है। इस मस्नवी की दो-तीन हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी जानकारी में आई हैं। मुहसिन अली ने भी 'सरापा सुखन' में इस मस्नवी की पुष्टि की है। सफ़ीर बिलगरामी (जलवा-ए-खिज्र, ३२/२) ने भी इस मस्नवी को देखने का दावा किया है। नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित मस्नवी में रचनाकार के रूप में नासिख़ का नाम दिया गया है। मस्नवी स्तरीय नहीं है। भाषा एवं अभिव्यक्ति की ऐसी त्रुटियाँ हैं, जो नासिख़ से होना सम्भव नहीं हैं। शायद यह मस्नवी भी नासिख़ द्वारा रचित हो तो इसका सम्बंध उनकी आरम्भिक शायरी से रहा होगा। बाद मस्नवी 'मे' राज' की भाँति नासिख़ ने इसे भी नजर अंदाज़ कर दिया होगा। यह भी सम्भावना है कि मस्नवी किसी अप्रसिद्ध शायर की हो जिसका नाम इमाम बख्श़ हो और लोगों ने व प्रकाशकों ने नाम की समानता के कारण इसे नासिख़ की ही मस्नवी समझ लिया हो ।

नासिख़ की ये तीनों मस्नवियाँ अस्तरीय भी हैं और संदिग्ध भी। इनके अतिरिक्त उनकी केवल दो मस्नवियाँ ऐसी बच रहती हैं जो निश्चित रूप से उनके द्वारा रचित हैं और काफ़ी ऊँचे स्तर की हैं। दोनों ही प्रकाशित हैं। एक तो कुल्लियात के साथ ही छपी है और दूसरी 'रश्क' के प्रयासों से प्रकाश में आई है।

मस्नवी

इस मस्नवी का वास्तव में कोई नाम या शीर्षक नहीं है। यह कुल्लियात के प्रथम संस्करण में दूसरे दीवान के बाद हाशिए में छपी है। बाद में १८६३ ई. में प्रकाशित

दूसरे संस्करण नवल किशोर प्रेस से छपे। उनमें से यह मस्नवी निकाला दी गई है। इस मस्नवी का एक पृथक संस्करण १९३१ ई. हबीबुल्लाह खाँ ग़ज़नफ़्फ़र ने इलाहाबाद से प्रकाशित किया। इस मस्नवी की पाण्डुलिपियाँ भी उपलब्ध हैं। एक पाण्डुलिपि रज़ा लायब्रेरी रामपुर में तथा एक लखनऊ विश्वविद्यालय लायब्रेरी में कुल्लियात की उस प्रति में मौजूद है जिसे 'जान पाल्मर की पाण्डुलिपि' कहा जाता है।

इस मस्नवी का विषय हज़रत अली का जन्म तथा इससे सम्बन्धित अनेक घटनाएँ और चमत्कार हैं। लगभग सात सौ शे'र हैं। इसका स्तर भी काफ़ी हद तक ऊँचा है। लेकिन भाषा एवं अभिव्यक्ति की वह प्रौढ़ता नहीं है जिसके लिए नासिख़ प्रसिद्ध हैं यह दोष उनके आरम्भिक दौर के लेखन में नही दिखाई देता । इतना तो सच है कि यह मस्नवी बिल्कुल आरम्भिक दौर की नहीं है, यह उनके पहले दीवान की समकालीन हो सकती है। मालूम होता है लिखने के बाद नासिख़ ने इस पर पुनर्दृष्टि नहीं की और उनकी मृत्यु के पश्चात् 'रश्क' ने अपनी या उनके शागिर्दों की राय से प्रकाशित कर दी। शायद नासिख़ जीवित होते तो दोबारा नज़र डालने के बाद ही इसे प्रकाशित करने की इजाज़त देते।

नासिख़ का नाम जिन मस्नवियों से जोड़ा जाता है उनमें से एक भी उनके महान सर्जनात्मक व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं है। शायद यह विचार उनके मन में खटकता रहा हो और उनके मन में एक श्रेष्ठ कोटि की मस्नवी लिखने की इच्छा जाग्रत हुई हो। एक ऐसी मस्नवी जो उनकी गरिमा के अनुरूप हो और इसी आग्रह से या किसी बुजुर्ग की फ़र्मायश पर उनके मन में एक नई मस्नवी लिखने का विचार उत्पन्न हुआ। यह मस्नवी है—सिराज-ए-नज़्म।

सिराज-ए-नज़्म

यह मस्नवी १८३८ ई. में पूरी हुई। नासिख़ की मृत्यु भी इसी वर्ष हुई थी। यह मस्नवी पहली बार १८४८ ई. (१२६५ हिजरी) में प्रकाशित हुई। इसके प्रकाशन का समूचा प्रबंधक 'रश्क' ने किया। इसका शीर्षक भी उन्होंने ही दिया था। नाम नासिख़ के जीवन-काल में ही रखा गया। नाम से इसका रचना-काल १८३८ ई. प्राप्त होता है। प्रकाशित मस्नवी में ९१ पृष्ठ है। इसमें लगभग ३६९५ शे'र हैं। इस मस्नवी में चार खंड है और बीच-बीच में १६३ उपशीर्षक हैं।

मस्नवी की विषय-वस्तु का सम्बन्ध हदीस[1] से है। मुफ़ज़्ज़ल[2], इमाम जाफ़र सादिक़ के प्रियजनों में से थे और उनकी हदीसों के साक्षी माने जाते हैं। मूल हदीस अरबी भाषा में है। इसका फ़ारसी अनुवाद अल्लमा मजलिसी (मृत्यु १६९८ ई., ११११ हि.) ने किया है। नासिख़ का अरबी ज्ञान बहुत सीमित था। अतः निश्चित रूप से नासिख़ ने इस नज़्म का आधार फ़ारसी हदीस को ही बनाया होगा। असल में वे अपनी मस्नवी को अनुवाद कहते हैं। वास्तव में वह अनुवाद नहीं है बल्कि ज़्यादातर उन्होंने हदीस की शिक्षाओं का अनुवाद किया है। इस हदीस का अरबी रूप 'बहारुलअनवार' के पहले खंड में मौजूद है। 'बहारुलअनवार' भी अल्लमा मजलिसी की कृति है। 'हदीस-ए-मुफ़ज़्ज़ल' एक विस्तृत हदीस है । इसलिए मुफ़ज़्ज़ल ने इसे एक बैठक के बजाय चार बैठकों में सुना। इस हदीस का मूल उद्देश्य उन शंकाओं का समाधान करना था जो कि इमाम जाफ़र सादिक़ के युग में पैदा हो गई थी। हदीसकार ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए आकाश, पृथ्वी, मनुष्य और उसकी कृतियाँ, प्राकृतिक सम्पदा, पशु-पक्षी, वनस्पति आदि विभिन्न तत्वों के लाभों का विस्तृत वर्णन किया है। हदीस में कहा गया है कि मनुष्य के शारीरिक अवयवों का स्रष्टा ईश्वर है और इन अवयवों की क्रियाओं का संचालन भी वही करता है। इसलिए इस हदीस का नाम 'तौहीद-ए-मुफ़ज़्ज़ल' भी है।

इस हदीस में कहीं-कहीं अल्लामा मजलिसी की व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ शामिल हैं। नासिख़ ने अनुवाद में बहुत सावधानी से काम लिया है और प्रत्येक अंश की स्वतंत्र पहचान बनाये रखी है।

'रश्क' ने इस मस्नवी के अंत में शायरी के फ़ार्म में अपना एक वक्तव्य भी शामिल किया है जो कि सूचनाओं की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। इससे मस्नवी से सम्बन्धित अनेक बातों का ज्ञान होता है। 'रश्क' का बयान है कि नासिख़ ने मस्नवी मुकम्मल करने के बाद मुहम्मद अली शाह (१८३७-४२ ई.) को भेंट की। मस्नवी के शे'रों से इस तथ्य की पुष्टि नहीं होती । लेकिन इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि मेहरबान बादशाह के और अधिक निकट पहुंचने के उद्देश्य से यह मस्नवी उन्हें भेंट की हो। वहीं यह प्रश्न भी उठता है कि भेंट करने के इरादे से यदि यह मस्नवी कही होती तो बादशाह की प्रशंसा में भी कुछ शे'र ज़रूर मौजूद होते । शे'रों अर्थात् अंतर्साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि यह रचना उस युग के

---

१. पैग़म्बर साहब की फ़रमाई बात २. हदीस के एक श्रोता का नाम

सुप्रसिद्ध धर्म-वेत्ता एवं तत्त्व-चिंतक मिर्ज़ा काज़िम अली की प्रेरणा से अस्तित्व में आई। जिनका ज़िक्र पहले भी आ चुका है। नासिख़ के धार्मिक विचारों पर मिर्ज़ा काज़िम अली की शिक्षाओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। मस्नवी उनकी आज्ञा से लिखी गई :

उनके इर्शाद[1] से हुई ये नज़्म
उनकी इम्दाद से हुई ये नज़्म

इस शे'र से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस मस्नवी की रचना में सिर्फ़ उनका इर्शाद ही नहीं बल्कि उनकी इम्दाद भी शामिल थी। इस बात से मस्नवी को आरम्भ करने के वर्ष का पता चलता है। मिर्ज़ा काज़िम अली का निधन १८३३ ई. में हुआ। याने निर्वासन-काल के बाद १८३२ में नासिख़ लखनऊ पहुँचे तो इसके एक वर्ष के भीतर मिर्ज़ा काज़िम अली ने उनसे फर्मायिश की होगी। यदि उनकी इम्दाद पर भी ध्यान दिया जाय तो मस्नवी का आरम्भ भी इसी दौरान हुआ होगा। सामग्री उपलब्ध कराने, हदीस के अनुवाद और गूढ़ रहस्यों को समझने में उन्होंने सहायता की होगी। इस प्रकार इस मस्नवी का आरम्भ १८३२-३३ ई. में हुआ होगा और यह १८३८ में पूर्ण हुई होगी। कोई ज़रूरी नहीं है कि इस अंतराल में नासिख़ निरंतर लेखन करते रहे हों। क्योंकि यह इतनी दीर्घ रचना भी नहीं है कि नासिख़ जैसे सिद्धहस्त कलाकार को इसे लिखने में इतना अरसा लग जाता ।

यह मस्नवी नासिख़ की मृत्यु के लगभग दस-ग्यारह वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुई। इस अंतराल में इसके मसौदे की ओर किसी का ध्यान नहीं गया होगा अन्यथा कुल्लियात के प्रकाशन के बाद (१८४२ ई.) जल्द ही छप जाती। 'रश्क' ने समापन के रूप में जो शे'र लिखे हैं उनसे ज्ञात होता है कि 'रश्क' के पास खुद इसकी कोई प्रति मौजूद नहीं थी। नासिख़ के शागिर्द मौलवी शहीद और नासिख़ के शागिर्द (बर्क़) के शागिर्द मियाँ 'जरी' इस मस्नवी का मसौदा 'रश्क' के पास लाये और फर्मायिश की कि अगर संशोधन की जिम्मेदारी 'रश्क' ले लें तो इसे छपवा दिया जाये। 'रश्क' ने अपनी स्वीकृति दे दी। अपने हाथ से एक पूरी प्रतिलिपि तैयार की और हर तरह के इंतज़ाम में कोई कमी नहीं बरती। अंततोगत्वा हाजी हरीन मुहम्मद हुसैन के मशहूर छापाख़ाने में इसे छपवाया। उन्होंने कोशिश तो बहुत की कि :

न रहे शायबा[2] मुआइब[3] का
न रहे सुक़्म[4] सहू कातिब का

१. कहना, स्नेहपूर्ण आदेश २. लेशमात्र संदेह ३. अशुद्धियाँ, दोष ४. किताबत की त्रुटियाँ

लेकिन उन्हें एक शुद्धि-पत्र जोड़ना पड़ा और वह भी पूर्ण नहीं है। इसमें अनेक अशुद्धियों के शुद्ध रूप और भी दिये जा सकते हैं। यह पता नहीं कि इस मस्नवीं की कोई पाण्डुलिपि अब भी कहीं विद्यमान है या नहीं। इसके सम्पूर्ण रूप में पुनर्प्रकाशन की भी सूचना नहीं है। नासिख़ की तमाम मस्नवियों में सिर्फ यह मस्नवी कलेवर एवं स्तरीयता की दृष्टि से अपनी विशिष्टता रखती है। यहाँ नज़्म और इससे सम्बंधित विभिन्न उपादानों पर नासिख़ के अधिकार का पता चलता है। लेकिन उर्दू शायरी में नासिख़ जिस शैली के लिए जाने जाते हैं, वह इसमें भी मौजूद नहीं है। यह मस्नवी न तो नासिख़ जैसे महान कलाकार की प्रतिष्ठा के अनुकूल है और न ही इसे उर्दू की दूसरी श्रेष्ठ मस्नवियों की तुलना में रखा जा सकता है। सच्चाई तो यही है। लेकिन इस सिलसिले में जो आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं, वे भी वज़न रखती है। यह कोई ऐसी मस्नवी नहीं है जिसमें और मस्नवियों की तरह सृजन की स्वतंत्रता मिल सकती। जो कि नासिख़ की शायरी की पहचान है। यह पवित्र हदीस और इमामों के कलाम के अनुवाद और व्याख्या से सम्बन्ध रखती है। यहाँ हर क़दम पर प्रतिबंध दिखाई देते हैं। नासिख़ को इन्हीं सीमाओं के भीतर रहना था। अन्यथा वे विषय की प्रकृति के प्रतिकूल रचना करने के अपराधी क़रार दिये जाते। मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद (मृत्यु १९१० ई.) ने इस मस्नवी के विषय में जे राय व्यक्त की है, वह राय उनकी सभी मस्नवियों पर सटीक बैठती है, "लोगों का विचार है कि यह स्तर से गिरी हुई है। लेकिन दरअसल यह हदीस के अनुवाद की पाबंदी है। इसलिए नासिख़ की आलोचना बेजा है।"

— आब-ए-हयात

फ़ारसी शायरी

नासिख़ उर्दू के शायर थे मगर अच्छे फ़ारसी दाँ थे। वे न केवल उस युग की प्रथानुसार फ़ारसी में पत्रव्यवहार करते थे बल्कि फ़ारसी नज़्म पर भी उनका अच्छा अधिकार था। वे फ़ारसी में औपचारिक रूप से किसी के शागिर्द तो नहीं बने लेकिन उस युग के मशहूर फारसी दाँ 'क़तील' से उन्होंने बहुत-कुछ सीखा। उन्होंने कभी फ़ारसी की विशेषज्ञता और दक्षता का दावा नहीं किया। अभी तक उनकी कोई फ़ारसी ग़ज़ल भी नहीं मिली है। जो कुछ है, उनके कुल्लियात में सम्मिलित फ़ारसी

क़त्ए हैं। उनकी हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में कुछ अप्रकाशित फ़ारसी कलाम मिल सकता है। विभिन्न स्रोतों से उनके एक हज़ार फ़ारसी शे'र प्राप्त हुए हैं। लगभग ५७५ शे'र तो उनके प्रकाशित कुल्लियात में मौजूद हैं। बहरहाल उनका फ़ारसी कलाम इतना ज़रूर है कि अली हसन ख़ाँ ने अपने फ़ारसी शायरों पर केन्द्रित वृत्तांत में उन्हें स्थान दिया है। इस वृत्तांत का नाम 'सुबह-ए-गुलशन' है। उनकी यह राय है कि नासिख़ ने फ़ारसी में विशेष रूप से मुबारकबाद और तारीख़ के क़त्ए लिखे हैं। जो क़त्ए उनके कुल्लियात के अंत में भी छपे हैं। उनके फ़ारसी कलाम में सहजता और प्रवाह है। दुरूहता और कृत्रिमता का दोष बहुत कम है। लगता है कि उन्होंने फ़ारसी के प्राचीन शायरों का काफ़ी गहराई के साथ अध्ययन किया था। उनकी उर्दू ग़ज़लों में फ़िरदौसी, सलमान सावजी, हाफ़िज़ शीराज़ी, बेदिल, साइब, तालिब आमिली और ग़नी कश्मीरी का ज़िक्र मिलता है। और इनमें से कुछ फ़ारसी शायर ऐसे हैं, जिनका स्पष्ट प्रभाव नासिख़ की फ़ारसी शायरी पर लक्षित होता है।

रिसाला क़ाफ़िया

यह फ़ारसी भाषा में लिखा हुआ एक छोटा-सा रिसाला है। इसमें छोटे आकार के लगभग तीस पृष्ठ हैं। मान्यताओं के अनुसार इसके लेखक भी नासिख़ ही हैं। यह अभी तक अप्रकाशित है। न इसके आरम्भ में भूमिका है और अंत में उपसंहार। मूल रिसाला कभी लखनऊ के एक रईस सैयद अबू साहब के पास था। जिससे आरज़ू लखनवी के पिता यास लखनवी ने नक़्ल उतारी। यह नक़्ल १८९२ ई. में प्राप्त हुई इसके परिशिष्ट में 'यास' लिखते हैं– 'यह रिसाला इमाम बख़्श नासिख़ का लिखा हुआ है।' यही कथन इस रिसाला के नासिख़ द्वारा रचित होने का एकमात्र प्रमाण है। मालूम नहीं, उस मूल प्रति में भी लेखक के स्थान पर नासिख़ का नाम था या नहीं, जिससे 'यास' ने प्रतिलिपि तैयार की थी। यह भी नहीं पता कि यह रिसाला सैयद अबू साहब के पास कैसे पहुँचा ? इस रिसाला का नासिख़ की रचना होना बहुत संदिग्ध है। कोई अंतर्साक्ष्य भी मौजूद नहीं है। नासिख़ जो दूसरों के लिए बात-बात में तारीख़ कह देते थे, उन्होंने इसकी कोई तारीख़ क्यों नहीं कही ? नासिख़ के शागिर्दों और प्रियजनों में ऐसा कोई व्यक्ति जानकारी में नहीं है, जो इस रिसाला के आस्तित्व से परिचित हो। नासिख़ की मृत्यु से लेकर १८९२ ई. तक यह रिसाला कहाँ विलुप्त रहा कि किसी को इसकी सूचना न मिल

सकी। ऐसी और भी अनेक बातें हैं जिनके विस्तार में जाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। फ़िलहाल यह रिसाला लखनऊ में प्रो. मसूद हसन रिज़्वी मरहूम के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

रिसाले की भाषा मामूली फ़ारसी कही जा सकती है। पूरे रिसाले में क़ाफ़िए की समस्याओं पर चर्चा की गई है जिनका सम्बन्ध फ़ारसी भाषा से है। सिर्फ़ एक स्थान पर हिंदी लहजे और उर्दू के कुछ शब्दों का प्रसंग आता है। अन्यथा आदि से अंत तक फ़ारसी की मिसालें ही दी गई हैं।

रिसाला काफ़िया के साथ ही 'मिन्हाजुल उरूज़' शीर्षक फ़ारसी का एक और रिसाला मिलता है। इसकी नक़ल भी 'यास' ने ही तैयार की है। 'यास' ने इस रिसाले के लेखक का कोई उल्लेख नहीं किया है। शायद भविष्य में इसे नासिख़ की कृति मान लिया जाये। बल्कि लाहौर से प्रकाशित नासिख़ के एक संग्रह में इसे उनकी रचना के रूप में शामिल भी कर लिया गया है । यह रिसाला भी नासिख़ की रचना नहीं लगता। 'मिन्हाजुल उरूज़' इसका तारीखी नाम है जिससे १७९१ ई. (१२०६ हिजरी) तिथि निकलती है। नासिख़ की आयु इस समय बीस वर्ष की थी। यहाँ तक कि ऐसा रिसाला लिखना उनकी क्षमताओं से बाहर था।

(२)

नासिख़ ने अपने जीवन का एक बड़ा हिस्सा कला की मौन साधना में व्यतीत किया था। इसलिए वृत्तांतकारों का ध्यान उनकी ओर बहुत बाद में गया। वे साहित्यिक क्षेत्रों में चर्चा का विषय भी बहुत देर से बने। और जब बने तो जल्द ही उन्होंने इतनी अहमियत हासिल कर ली कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक उनके समर्थक और विरोधियों की एक बड़ी भीड़ खड़ी हो गई। उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा भी की गई और अत्यंत कठोर आलोचना भी हुई । दोनों ही समूहों में वस्तुनिष्ठता कम है। अतिशयता का दख़ल काफ़ी हद तक रहा है। लेकिन महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनके कट्टर विरोधी भी दबी ज़बान से और अपने लेखन में उनकी प्रशंसा करते दिखाई देते हैं। यदि उनके आलोचकों के संपूर्ण लेखन पर दृष्टिपात किया जाये तो पता चलता है कि किसी न किसी रूप में सभी ने नासिख़ के प्रति यथेष्ट सम्मान व्यक्त किया है। इसी से यह अनुमान होता है कि उन्हें महज़ एक शायर के बजाय उर्दू साहित्य के सृजन

एवं विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाले व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार किया गया है।

मुसहफ़ी पहले ऐसे महत्वपूर्ण शायर और वृत्तांतकार है जिन्होंने नासिख़ के मूल्य एवं महत्त्व को भली-भाँति समझा और उर्दू शायरी के बदलते हुए संदर्भो में नासिख़ की सम्भावनाओं का सही आकलन किया। उन्होंने पहले-पहल अपने वृतांत 'रियाज़ुलफ़स्हाए' में उनका ज़िक्र किया । नासिख़ इस समय ३७ वर्ष के थे। उन्हें मुहज़्ज़ब[१] और हलीमुत्तबअ[२] कहा। शायरी के विषय में यह राय दी कि वे उर्दू के शायर हैं और नये अर्थ की खोज में रहते हैं । इसी तज़्किरा में वे नवाब हुसैन अली ख़ाँ के प्रसंग में लिखते हैं कि 'शेख़ इमाम बख़्श नासिख़ ने मानीबंदी में ताज़ा-ताज़ा इल्मे उस्तादी बुलंद किया है और मुझसे भी वो दिली दोस्ती रखते हैं।' नासिख़ के वास्तविक महत्त्व का पता उनकी उस भूमिका से चलता है जिसमें उन्होंने उर्दू शायरी के विकास और बदलते हुए रंगों का विस्तृत जायज़ा लिया है, पूर्ववर्ती मीर और मिर्ज़ा के युग की विशेषताओं का वर्णन किया है और साथ ही लखनऊ की समकालीन शायरी में उभरती हुई नई प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात किया है। उन्होंने आधुनिकता और नये प्रयोगों के उन स्वरों को मेहसूस कर लिया था जो कि लखनऊ की स्वाधीनता के साथ उभर रहे थे। वे नये लखनवी रंग और शैली की चर्चा करते हुए लिखते है कि "इस शैली के लिए सबसे बड़ा योगदान शेख़ इमाम बख़्श नासिख़ का है जो मुहम्मद ईसा 'तन्हा' के दोस्त हैं और मुझसे भी दिली रसूख़ रखते हैं। उन्होंने अपने तख़ल्लुस की मुनासिबत से इस्म-ए-बमुसम्मा[३] बनकर सादगी पसंद शायरों के तर्ज़ पर थोड़े-ही अरसे में ख़त निस्ख़[४] खींच दिया और उनके पीछे और कद़म मिलाते हुए आतिश ने भी अपनी तेज़ रफ्तार फ़िक्र को फ़लक[५] तक पहुँचा दिया। इसी तरह का तीसरा नाम तालिब अली ईसा का है। इसका नतीजा यह हुआ कि शे'रो-ज़बान के दुश्मन और दावेदार बिलों में रूपोश हो गये। उनके सिर ख़जालत[६] से झुक गये और अपने सुस्त कलाम से पशेमान होकर मुशायरों में जाने से गुरेज़ करने लगे और ख़ामोशी के सिवा कोई चारा न रह गया।" फिर मुसहफ़ी लिखते हैं कि :

१. सुसंस्कृत २. गंभीर और सहिष्णु प्रकृति वाला व्यक्ति ३. यथा नाम तथा गुण
४. एक लिपि जिसमें अरबी लिखी जाती है ५. छुपना ६. लज्जा

"मैं भी पहले सादागोओं में से था मगर नये रंग को देखकर इस छठे दीवान की अक्सर ग़ज़लें इन्ही लोगों के तर्ज़ पर कहीं।"

इस कथन का मूलभाव बहुत ही स्पष्ट है। नासिख़ लखनऊ के साहित्यिक वातावरण में घटित होने वाले परिवर्तनों के अग्रदूत बन गये। इन परिवर्तानों ने एक स्वतंत्र साहित्यिक केन्द्र की स्थापना में सहायता की और युवा एवं युवतर कलाकारों की पीढी को जन्म दिया। मुसह्फ़ी जैसे बुज़ुर्ग शायर ने नासिख़ के इस योगदान की सराहना की। सराहना ही नहीं बल्कि अनुसरण भी किया।

नवाब मुस्तफ़ा ख़ाँ 'शेफ़्ता' जो नासिख़ और ग़ालिब के समाकालीन थे और एक दृष्टिसम्पन्न आलोचक के साथ-साथ एक समर्थ शायर थे। वे लखनऊ में नहीं थे बल्कि दिल्ली में रहते थे और लखनऊ की स्थानीय राजनीति एवं साहित्यिक आंदोलनों में उनकी कोई रुचि नहीं थी। देहलवी होने के कारण उन्हें लखनऊ के रंग से तो निराशा होना चाहिए थी लेकिन उन्होंने अपने वृत्तांत 'गुलशन-ए-बेख़ार' में नासिख़ को सादर स्थान दिया है। उनकी प्रशंसा भी की है। उन्होंने इस वृत्तांत में नमूने के तौर पर १०१ चुनींदा शे'र दिये है। कुछ को छोड़ कर ये सभी शे'र पहले दीवान से लिये गये हैं। वे लिखते हैं :

"जब मैं तज़्किरा मुकम्मल कर चुका तो मुझे ख़बर मिली कि नासिख़ का दीवान दोम (दूसरा) भी न सिर्फ़ मुरत्तब (एकत्र) हो गया है बलिक देहली भी पहुँच गया है। मैं इस दीवान से इंतख़ाब न कर सका । हाँ उनकी ताज़ा ग़ज़लों से कुछ शे'र चुन कर के दर्ज कर दिये हैं। इन ग़ज़लों को दोस्तों ने मुझे तोहफ़े के तौर पर भेजा है।"

इन पक्तियों से यही अनुमान होता है कि नासिख़ की ग़ज़लों को ऐसी मूल्यवान निधि समझा जाता था कि उन्हें उपहार के रूप में दिल्ली भेजा गया था और उनका दीवान सम्पादित होते ही लखनऊ से बाहर पहुँचने लगा था। खुद नासिख़ के बारे में 'शेफ़्ता' राय देते हैं कि वे निहायत आली पाया, बुलंद अंदेशा और नाज़ुकख्याल शायर हैं और ताज़ा मानी की तलाश में बेमिस्ल हैं।

करीमुद्दीन इस युग का प्रसिद्ध वृत्तांतकार है। जिसने अपना वृत्तांत 'तब्क़ातुल शुअरा-ए-हिंद' नासिख़ की मृत्यु के थोड़े समय बाद ही लिखा। हालाँकि इस वृत्तांत में अनेक बातें, जिनका सम्बन्ध उनके हालात से है, ग़लत दर्ज हैं। लेकिन नासिख

के बारे में आम राय और आम धाराणाओं को करीमुद्दीन ने सफ़ाई के साथ लिख दिया है । उनका विचार है :

"नासिख़ की उस्तादी और बुलंद फ़िक्री में कोई शक नहीं। उनके अनुभवों और कथन-भंगिमा पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकता। आतिश और नासिख़ दोनों की उस्तादी के लिए किसी प्रमाण की ज़रूरत नहीं। इन दो शख़्सों के सामने किसी शायर की अब हमारे ज़माने में कोई क़द्र नहीं है। नासिख़ के शागिर्द उसके बराबर किसी को शायर नहीं समझते ।"

इस कथन से नासिख़ के उस प्रभाव का पता चलता है जो कि उनकी मृत्यु के बाद भी किसी तरह कम नहीं हुआ था।

'तज़्किरा ख़ुशमा'र्का ज़ेबा' का लेखक व्यक्तिगत रूप से नासिख़ के अनुकूल नहीं था बल्कि बहुत वैमनस्य रखता था। उसने लम्बे समय तक अपने वृत्तांत (तज़्किरा) की सामग्री का संग्रह किया। साथ ही अपने अनेक समकालीन चर्चित एवं औसत दर्जे के शायरों से भेंट करके अपनी राय कायम की और घटनाएँ दर्ज कीं। उसका नासिख़ के यहाँ भी आना-जाना था। उसने अपने वृत्तांत में बिना किसी आग्रह के और सहज रूप में अनेक जगहों पर नासिख़ का ज़िक्र किया है। सीधे-सीधे उसने जो कुछ लिखा है, वह नासिख़ के रचना-वैशिष्ट्य के स्वीकार का जीवंत प्रमाण है। वह उन्हें पुरानी शैली का कुशल चितेरा और शे'रो-सुख़न पर अपना अंतिम निर्णय देने वाला उस्ताद कहता है। उर्दू में उन्हें साइब और कलीम[1] की यादगार ठहराता है, उन्हें एक मधुभाषी और अर्थ-सम्पन्न शायर स्वीकार करता है।

'ख़ुशमा'र्का ज़ेबा' के लेखक सआदत ख़ाँ के अतिरिक्त जिन महत्वपूर्ण वृत्तांतकारों ने नासिख़ की मृत्यु के बाद उन पर लिखा है उनमें अहमद हसन 'सहर' का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। अतिशयोक्ति उस युग की परिपाटी थी। वह 'सहर' के बयान में भी मौजूद है । लिखते हैं :

"नासिख़ अपने दौर के नज़ाकत पसंद शायरों के उस्ताद थे। उन्होंने सारी दुनिया में अपनी शायरी की धूमधाम मचा दी और अपनी उस्तादी का नक़्क़ारा बजवा दिया। ताज़ा और नये विषय जितने उनके हिस्से में आये,

१. साइब और कलीम फ़ारसी के प्रसिद्ध शायर थे।

दूसरे शाइरों को ये सपने में भी नसीब नहीं हुए। मैंने उनसे खुद जो कुछ सुना और उनके दीवान में देखा, उसका चयन यहाँ दे रहा हूँ।"

– तज़किरा बहार बेख़िज़ाँ (नदवा की पाण्डुलिपि)

इसी तरह कुतुबुद्दीन 'बातिन' ने अपने वृत्तांत 'गुलिस्तान-ए-बेख़िज़ाँ में नासिख के विषय में विस्तार के साथ लिखा है। अपने निष्कर्ष में लिखते हैं :

"किसी के शागिर्द नहीं और सबके उस्ताद हैं। जिसके मन में दृढ़ विश्वास है, वह नासिख़ के प्रति श्रद्धा रखता है। शेख़ का कलाम है, इसकी बढ़ाई बयान से परे है।"

इसके बाद उन्होने १२९ शे'रों का एक चयन भी दिया है। वे 'आतिश' के ज़्यादा क़ायल मालूम होते हैं किंतु नासिख को लेकर उनके विचार स्पष्ट और निर्णयात्मक है।

'गुलिस्तान-ए-सुख़न' मे कादिर बख़्श साबिर देहलवी अपनी लच्छेदार भाषा में बड़े विस्तार के साथ नासिख़ की चर्चा करते हैं। जिसमें सार की बात कम है और दोष ज़्यादा गिनाये गये हैं। फिर भी यह स्वीकार करते हैं कि "नासिख़ एक खुशगो और नामवर मुकम्मल शायर हैं। उसके सोच ने अर्थ में ताप भर दिया है और भाषा में नई आभा पैदा कर दी है। शायरी के साथ न्याय करने वाले उसे उस्ताद समझते हैं और प्रशंसक उसके शे'र का जादू मानते हैं। मुख्य रूप से उसकी शायरी में रूपक का प्रयोग मिलता है लेकिन अगर कोई आशिक़ाना शे'र ज़बान से निकल गया तो शोला-सा भड़क जाता है और लोग परवाने की तरह उसकी तरफ लपक जाते हैं।"

इसके उपरांत वे नासिख़ पर दो आरोप लगाते हैं। एक तो यह कि अंत समय में उन्होंने अज्ञानता वश 'जुरअत' के रंग को अपना लिया और अपना दीवान 'दफ़्तर-ए-परीशान' ऐसे शे'रो से भर दिया और कई जगह शे'र बेमानी भी हो जाते हैं।

यह राय एकदम निराधार है। दरअसल 'जुरअत' और नासिख के रंग और मिज़ाज में बड़ा फ़र्क़ है। उनके दूसरे दीवान याने 'दफ़्तर-ए-परीशान' के बारे में तो यह बात नितांत अतार्किक लगती है। 'साबिर' द्वारा उठाई गई आपत्ति पर बाद में बहुत विचार-विमर्श हुआ। लोगों ने इसके जवाब दिये। इस आपत्ति के बेबुनियाद

होने तथा नासिख़ के व्यापक प्रभाव के कारण ऐसा हुआ। सैयद मुस्तफ़ा 'गुस्ताख़' न अपनी पुस्तक 'गुस्ताख़ी माफ़' में लिखा है कि :

"शहज़ादा साहब याने मिर्ज़ा साबिर बख़्श ने नासिख़ को बेमानी और बेतुके शे'र कहने वाला करार दिया है। यह ऐतराज तो कभी किसी ने किया ही नहीं है। इस बेदलील दावे का क्या जवाब दिया जाये। हाँ यह ज़रूर पता चल गया कि नासिख़ के शे'र आपकी समझ से बाहर हैं।"

इसी प्रकार नज्मुलग़नी ने इस आपत्ति को अत्यधिक कठोर बताया है बल्कि उनकी राय है कि नासिख़ जैसा एतबार किसी को नसीब नहीं हुआ। उसूल को कभी हाथ से नहीं जाने दिया। उर्दू में साहिब-ए-तर्ज़ करार पाये। उन्हें 'नासिख़' कहना बजा है, क्योंकि वे पुरानी काव्य शैली के नासिख़[1] हैं। उन पर विषयों की चोरी का इल्जाम लगाना नादानी है। जिस शख़्स के नाज़ुलख्याली के कमाल और नये विषयों से मुक्त कई दीवान मौजूद हैं, वह भला चोरी की कोशिश कर सकता था ? और यों तो शायरी में काव्य-विषयों की समानता अनेक शायरों में मिलती है।

यदि नासिख़ के पक्ष में व्यक्त किये गये सहानुभूतिपूर्ण विचारों का एक स्थान पर एकत्र किया जाये तो एक पुस्तक तैयार हो सकती है। दूसरे लेखकों की बात तो अलग है, खुद उनके शागिर्दों ने काव्य एवं गद्य विधाओं में जो श्रद्धांजलियाँ अर्पित की हैं, यहाँ उनका हवाला दे पाना ही कठिन है।

कल्ब हुसैन खाँ नादिर ने 'तल्ख़ीस-ए-मुअल्ला' में नासिख़ को एक महान शायर के रूप में उल्लेख किया है। वे नासिख़ को अपने युग का फ़िरदौसी, शायरों का सम्राट, अर्थ-द्रष्टा आलोचक, नये विषयों का गवेषक, शायरी की आधारशिला और नई शैली के प्रणेता के रूप मे स्मरण करते हैं। यदि इस कथन में से अतिशयोक्ति का अंश निकाल भी दिया जाये तो जो कुछ शेष रहता है, वह नासिख के वास्तविक महत्व को ज़ाहिर करने के लिए पर्याप्त है।

उनके दूसरे शागिर्द 'रश्क' ने नासिख़ के प्रति सम्मान एवं श्रद्धा-भाव व्यक्त करने के उद्देश्य से जितने शे'र कहे हैं, उनकी संख्या इतनी अधिक है कि नासिख़ के तमाम शागिर्दों ने भी मिलकर नहीं कहे होंगे। उन्होंने फुटकर शे'र तो कहे ही हैं, कई ग़ज़लें 'नासिख़' की रदीफ़ के साथ कही हैं :

---

१. लिखने वाला, अंकित करने वाला

शे'र गोई में हैं उस्ताद जनाब-ए-नासिख़
मानी आरा सुख़न ईजाद जनाब-ए-नासिख़
फ़साहत[१] हो बलागत[२] हो कि तहक़ीक़
न होगा कोई तुझ-सा हाय नासिख़
कर इंसाफ़ ऐ जहाँ सिफ़्ला परवर[३]
जियें मंसूख़[४] यों मर जाय नासिख़

मर्ग-ए-नासिख़[५] से फ़साहत को लगा दाग़ ऐ 'रश्क'
न ही ये तबअ़[६] न ये ख़ूबी-ए-ज़बाँ पैदा
हुस्न बंदिश सेहत अल्फ़ाज़[७] व मज़्मून-ए-जदीद[८]
नासिख़ एक इक बात में ऐ 'रश्क' अकेला हो गया

इसी प्रकार ख़्वाजा वज़ीर, बर्क़, क़बूल और मज़्लूम शाह ने भी उनसे सम्बन्धित शे'र कहे हैं, जो विना किसी क्रम के नीचे अंकित हैं :

याद आते हैं मुझे हज़रत-ए-नासिख़ जो 'वज़ीर'
क्या लगा देती है अश्कों की झड़ी मेरी आँख

दर शे'रो-सुखन मिस्ल न दाश्त[९]
फ़िलहक़ीक़त हमादान बूद नासिख़

नासिख़ कि बूद अकमल ब फ़न[१०]
उस्ताद बा इर्शाद मा

दर अक़ालीमा सुख़नदानी अदीलश नेस्त नेस्त[११]
मिस्ल ओ दर दौर ख़ुद हर्गिज़ न दीदा आसमान

---

१. शब्दों का उचित प्रयोग २. आलंकारिक शैली ३. तुच्छ लोगों को बढ़ावा देने वाली दुनिया
४. रद्द, निरस्त ५. नासिख़ की मृत्यु ६. अभिव्यक्ति, भाषा ७. स्वस्थ एवं गठे हुए शब्द
८ नये विषय ९. वास्तव में नासिख़ की शे'रो-शायरी की मिसाल संसार मे कोई नहीं है।
१०. नासिख ने 'क़बूल' से कहा कि तुम अपने फ़न में मुकम्मल हो। मेरे उस्ताद ने मुझसे यह कहा।
११. संसार के बहुत-से देशों में नासिख़ जैसा आला शायर नहीं हुआ है। यहाँ तक कि ख़ुद आसमान ने भी अब तक उसके समान शायर नहीं देखा है।

तस्वीर का दूसरा रुख़ जानने के लिए छिद्रान्वेषण से युक्त उन टीका-टिप्पाणियों का ज़िक्र करना भी ज़रूरी लगता है, जो कि नासिख़ के जीवन-काल में की जाती रही थीं। छोटे-छोटे बखेड़ों को छोड़कर उन पर खुलकर प्रहार करने वाले 'तास्सुफ़' हैं जो नासिख़ के लगभग समकालीन थे और अनुमान यह है कि उनकी मृत्यु भी नासिख़ की मृत्यु के आसपास ही कभी हुई । वे मीर शेर अली 'अफ़सोस' के बेटे थे । शायरी में अच्छी पहुँच रखते थे। शायरी के नियम और भाषा की बारीकियों की भी अच्छी समझ रखते थे । लेकिन न तो नासिख़ की शे'रगोई के प्रशंसक थे और न ही उनके द्वारा किये भाषा-सुधार के कायल थे। उन्होंने अपना कलाम जमा किया और ग़ज़लों की संख्या की दृष्टि से इसका नाम 'दीवान-ए-सद ग़ज़ल' रखा। वे वर्षों तक अज्ञात रहे। अब उनका दीवान प्रकाशित हो चुका है। इस दीवान में जगह-जगह नासिख़ का उपहास उड़ाया गया है। उन्होंने इस दीवान की विस्तृत भूमिका भी लिखी है। शायद ही कोई नामवर शायर बचा हो जिस पर उन्होंने इस भूमिका में प्रहार न किया हो। मीर, सौदा, मुसहफ़ी, आतिश और नासिख़ सबको ही उन्होंने निशाना बनाया है। नासिख़ पर वे ज़्यादा मेहरबान मालूम होते हैं। उनके लिए लिखते है :

> "उन्होंने बहुत-से शायरों से फ़ायदा उठाया। उन्हें शायरी के नियमों और क़ाफियों के कई रिसाले याद हैं। फ़ारसी के क़ायदे भी जानते हैं मगर सब उस्तादों की शागिर्दी से इनकार है...... जब कि बड़-बड़े शायर और माहिर-ए-फ़न लखनऊ में मौजूद हैं पर जो शोहरत और नामवरी नासिख़ को हासिल है, वह किसी के नसीब में नहीं है। उनका मज़ाक बिलकुल अलहदा है, कलाम में चाशनी की लज़्ज़त बराय नाम भी नहीं है, मिठास व मज़ा बिल्कुल नहीं है। शब्दों में दिखावटी चमक-दमक है लेकिन उनमें अर्थ की दरिद्रता है और अक्सर कलाम बेनमक है, वे कठिन और दुर्बोध शायरी करते हैं। फ़ारसी से विषय चुराते है और बेअंदाज़ सोच से नये विषयों की खोज करते रहते हैं, इसमें इस क़दर डूबे रहते हैं कि उर्दू ज़बान के मुहावरे और उपमाओं का कहीं-कहीं शे'र में कोई दख़्ल नहीं रह जाता है कोई ग़ज़ल नहीं है जिसमें कुछ निरर्थक और आपत्तिजनक शे'र न हों। शे'र कहने की रुचि रखने वाले लोगों को चाहिए कि पुराने उस्तादों की सीधी-सादी राह को छोड़कर नासिख़ की टेढ़ी और भ्रमित करने वाली राह पर न चलें। उसका

कलाम ऊँची दुकान और फीका पकवान है।"

यह सब लिखकर उन्होंने नासिख़ के बारह शे'र चुने हैं और हर एक के दोष गिनाये हैं। सआदत ख़ाँ 'नासिर' साहब (खुश मार्का ज़ेबा) ने, जो कि नासिख़ के प्रति दिली हमदर्दी नहीं रखते, 'तास्सुफ़' के विचारों की कड़ी आलोचना की है। इस लेखक द्वारा प्रदत्त प्रमाणों के अनुसार कुछ को छोड़कर नासिख़ के अधिकांश शागिर्द उनकी गरिमा की रक्षा न कर सके। हालँकि उन्होंने नासिख़ की अवहेलना नहीं की लेकिन वे अपनी श्रेष्ठता जताने लगे थे। 'नासिर' ने ऐसे शागिर्दों में ख़्वाजा वज़ीर और महदी हसन खाँ आबाद का नामोल्लेख किया है। उसके अनुसार :

> "अफ़सोस शेख़ (नासिख़) का हर शागिर्द अपने को उनसे बेहतर मेहसूस करता है। ख़ुद को लेकर उनका यह भ्रम ही है। शेख़ होना तो कहाँ, पर शेख़चिल्ली तो हुए !"

उन पर लगाई गई आपत्तियों की पुष्टि किसी स्रोत से नहीं होती । ये अतिशयतापूर्ण आपत्तियाँ स्पष्ट रूप से अतार्किक और बेबुनियाद हैं।

नासिख़ की मृत्यु के उपरांत उनकी शायरी को लेकर बहस छेड़ने वालों में अब्दुल ग़फ़ूर नस्साख़ का नाम प्रमुख है। वे बंगाल के निवासी थे और आयु में नासिख़ से छोटे थे। उनका जन्म १८३३ ई. का था। वे पदोन्नतियाँ पाते हुए डिप्टी कलेक्टर हो गये। उनकी शादी भी खानदान तैमूरिया में हुई थी। पढ़े-लिखे और महारत रखने वाले शायर थे । उनके भीतर अंहकार और आत्म-प्रदर्शन की भावना थी। इसलिए कुछ ही दिनों बाद उन्होंने अपना 'महजूर' उपनाम छोड़कर 'नस्साख़' उपनाम रख लिया और अपने एक शागिर्द का तख़ल्लुस 'अंसख़' रखा। ये सब बातें नासिख़ के प्रति उनके कलुषित विचारों का परिचय देती हैं। वे एक-दो बार लखनऊ भी आये। अपनी पद-प्रतिष्ठा और शानो-शौकत को लेकर उन्हे यह उम्मीद थी कि लखनऊ के साहित्यिक वातावरण में छा जायेंगे। १८५७ के बाद लखनऊ लाख लुट गया लेकिन ऐसा गया-बीता भी नहीं हुआ था कि 'नस्साख़' और उनकी शायरी के आगे सिर झुका लेता। 'नस्साख़' यहाँ से बहुत निराश और खिन्न होकर लौटे। अब उन्होंने लखनऊ के उस्तादों, विशेष रूप से नासिख़ के विरुद्ध एक निंदा-अभियान छेड़ दिया जिसका सिलसिला अरसे तक जारी रहा । इसका प्रचार समूचे उत्तर भारत में हो गया। इस कहानी में मज़े की बात यह है कि 'नस्साख़ ने अपने जितने दीवान सम्पादित किये हैं, वे सब नासिख़ के रंग में हैं। वास्तव में वे नासिख़ के वैचारिक शिष्य प्रतीत होते हैं।

इस विवाद की शुरूआत यों हुई कि 'नस्साख़' ने एक रिसाले का सम्पादन किया और 'इंतख़ाब-ए-नुक्स' इसका नाम रखा। इसका विवेच्य विषय अनीस और दबीर की शायरी में दोष-निरूपण था। फिर उन्होंने अपने शागिर्द 'असंख़' के नाम से एक रिसाला 'तूमार-ए-अग़लात' छपवा दिया जिसमें नासिख़ समेत लखनऊ के छः उस्तादों को लक्ष्य बनाया। इन दोनों रिसालों का स्वर और लहजा ठीक नह. था। इनसे बड़ी हलचल पैदा हो गई । फिर विभिन्न लेखकों की ओर से इनके जवाब आये। फिर खंडन-मंडन (पॉलिमिक्स) का सिलसिला शुरू हो गया। कई किताबें और रिसाले आ गये । जैसे 'सनान-ए-दिलख़राश' (मुनीर शिकोहाबादी), 'गुस्ताख़ी माफ़' (सैयद मुर्तुजा गुस्ताख़), 'ततहीरुल औसाख़' (मुहम्मद रज़ा मुअज्जिज़), 'मुस्कित-ए-शायस्ता' (सैयद मुहम्मद तक़ी), तफ़सीह और 'जवाब-ए-ऐतराजात' (मौलवी आग़ा अली)।

ये जवाब भी बड़े सख़्त थे। 'नस्साख़' की तुलना में इनका लहजा अपेक्षाकृत अधिक रूखा एवं अप्रिय था। ये बहस १८७७ ई. के आसपास शुरू हुई ओर लगभग १८८५ तक चलती रही। अंततः परिणाम वही हुआ जो कि ऐसी बहसों का होता है। बड़ी-बड़ी गूढ़-गम्भीर बातें पुस्तकों में आ गईं लेकिन निष्कर्ष कुछ नहीं निकला। अब लगभग एक शताब्दी बीत जाने के बाद इतिहास अपना वस्तुनिष्ठ निर्णय देने की स्थिति में आ गया है और यही निर्णय वास्तविक निर्णय होगा। इस शताब्दी में जब नासिख़ की प्रासंगिकता ही उतनी नहीं रही तो नस्साख़ और 'अंसख़' की तो बिसात ही क्या ?

उन्नीसवीं शताब्दी में ही सफ़ीर बिलगरामी ने 'जल्वा-ए-खिज़्र' नाम से दो खण्डों में एक वृत्तांत लिखा। यह वृत्तांत और मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद की प्रसिद्ध पुस्तक 'आब-ए-हयात' लगभग समकालीन है और यह उसी समय लिखा गया जब 'नासिख़' द्वारा छेड़ा गया विवाद चल रहा था। कहने को यह वृत्तांत है लेकिन इसका बहुत बड़ा भाग नासिख़ की हिमायत और पक्षधरता के लिए समर्पित है। नासिख़ की पक्षधरता करने वालों में सफ़ीर बिलगरामी से अधिक मुखर शायद कोई नहीं है। लेकिन अब लखनऊ ही बदल चुका था और भारत के समूचे वातावरण में पश्चिम से आने वाली हवाएँ अपना असर दिखाने लगी थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में नासिख़ से सम्बन्धित जो निर्णय दिये जाने लगे थे, बीसवीं शताब्दी में आकर उनमें और अधिक दृढ़ता आ गई। इस युग में नासिख़ को लेकर संतुलित ओर

वस्तुलिष्ठ राय देने वालों में 'आज़ाद' के अतिरिक्त मौलाना इम्दाद इमाम 'असर' का नाम भी शामिल है। नासिख़ सम्बन्धी उनके विचार इस सिलसिले बहुत महत्त्व रखते हैं। वे अपनी पुस्तक 'काशिफुल-हक़ायक़' में लिखते हैं :

"शेख़ अपनी गज़लों में ज़्यादातर बाहरी विषयों को बाँधते रहे इसलिए उनका रंग दर्द, मीर, मोमिन और ग़ालिब आदि से अलग हो गया। उन्होंने ग़ज़ल के तंग दायरे को व्यापक बनाया। लेकिन बहुत-से ऐसे विषय आ गये कि शेख़ की ग़ज़लें हार्दिक भावनाओं से ख़ारिज हो गईं। शेख़ एक शायर के रूप में असाधारण प्रतिभा के धनी थे। उनकी नाज़ुकख़्याली और उच्च कल्पना में अनूठापन है। उकी रचनाएँ गांभीर्य, ओज, उदात्तता और सांसकृतिक विवेक से परिपूर्ण हैं। कठिन विषयों को सरलता के साथ बाँध जाते हैं। उनके शब्द मोतियों की भाँति जड़े रहते हैं। उनकी उपमाएं उच्च कलपानाशीलता का परिचय देती हैं लेकिन कभी-कभी फब्ती-जैसी लगने लगती हैं। उनमें अतिशयोक्ति की ओर झुकाव है लेकिन अतिशयोक्ति जब अनुपात से बाहर हो जाती है तो शेख़ स्वाभाविकता के मार्ग से भटक जाते हैं।"

वे यह भी लिखते है :

"हज़रत नासिख़ शायरी की क़ाबिलियत में हज़रत गालिब से कभी कम न थे लेकिन बाहरी विषयों को बाँधने के कारण उनकी (नासिख़) ग़जलें ग़जलीयत का मज़ा नहीं देती । शब्दों के उचित प्रयोग और आलंकारिकता के अलावा शेख़ की रचनाओं में सांस्कृतिक स्पर्श भी है। बाज़ारू और अश्लील विषयों को नहीं बाँधते। वे उस्तादों के उस्ताद होने का अधिकार रखते हैं। उनके एक बड़े नामवर शायर होने में किसी समझदार व्यक्ति को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। शेख़ के व्यक्तिव पर लखनऊ ही नहीं समूचे हिंदुस्तान को गर्व करना चाहिए।"

आज़ाद ने नासिख़ की काफ़ी विस्तार के साथ चर्चा की है। उन आपतियों का भी खुलकर ज़िक्र किया है जो कि नासिख़ पर लगाई जाती रही थीं। ये आपत्तियाँ वही हैं जिनका किसी न किसी रूप में पहले उल्लेख किया जा चुका है। यानी उनकी कोमल भावनाएँ अतिरंजनापूर्ण हैं, वे ऐसे क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते हैं कि ग़ज़ल की नज़ाकत उन्हें सहन नहीं कर सकती । वे ऐसे-ऐसे प्रयोग कर जाते हैं जो कि अत्यधिक दुर्बोध प्रतीत होते हैं और वे फ़ारसी के शे'रों से भाव की चोरी कर लेते हैं

जिसकी दो मिसालें भी पेश की जाती हैं। लेकिन बाद में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक ऐसे शायर पर जिसने इतना ज़्यादा लिखा हो, चोरी का आरोप लगाना इंसाफ़ की आँखों में धूल झोंकने के बराबर है। आगे फिर कहते हैं कि 'सौदा' और 'मीर' के शे'र भी उस्तादों के शे'रों से टकरा गये हैं, जो बात इनके बारे में कही जा सकती हैं वही नासिख़ के बारे में कह सकते हैं। कुल मिलाकर उनके जो निष्कर्ष हैं, वे नासिख़ के पक्ष में जाते हैं :

"ग़ज़लों में अतिरंजित कल्पना, भावतरलता और शायरी की दृष्टि से निषिद्ध शब्दों की भरमार है और प्रभाव-क्षमता कम है। 'साइब' के रूपक और उपमाओं को अपने भाषा-शिल्प में ढालकर इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि कई मौकों पर 'बेदिल' और नासिर अली की सीमाओं को छू गये हैं और उर्दू में एक नई शैली के प्रणेता बन गये हैं । उन्हें 'नासिख़' कहना उचित है क्योंकि उन्होंने पुरानी शैली को 'नस्ख़'[२] किया जिसका स्वयं उन्हें भी गर्व था..... उनकी रचनाओं में तसव्वुफ़ भी है लेकिन उसका रास्ता कुछ और है जिससे वे परिचित नहीं है.....इन्हीं नाज़ुकख़्यालियों (भाव तरलता) में साफ़ शे'र भी ज़बान से निकल गया है, यह एक ऐसा तीर है जो निशाने के पार जाकर अड़ा है, बीच में अटक कर नहीं रह गया है।"

— आब-ए-हयात : नासिख़ का संदर्भ

सैकड़ों आहें करूँ पर दख़्ल क्या आवाज़ का
तीर जो दे दे सदा, है नुक़्स तीरंदाज़ का
तिरछी नज़रों से न देखो आशिक़-ए-दिलगीर को
कैसे तीरंदाज़ हो, सीधा तो कर लो तीर को

यह सच है कि नसिख़ के यहाँ इससे कहीं बेहतर शे'र मौजूद हैं और मिसाल में पेश किये जा सकते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में भी ऐसे कई शे'रों को संदर्भित किया गया है लेकिन 'आज़ाद' का चयन बहरहाल यही है। वे इस बात से भी सहमत हैं कि शुरू-शुरू में लखनऊ की शायरी का प्रेरणा-स्रोत दिल्ली था और लखनऊ के शायर दिल्ली थे मुहावरे को गर्व के साथ स्वीकार करते थे। लेकिन धीरे-धीरे शेख़

---

१. फ़ारसी के एक प्रसिद्ध शायर २. नस्ख़ के दो अर्थ हैं। एक, अरबी की एक प्राचीन लिपि, दूसरा निरस्त करना। यहाँ दूसरा अर्थ ग्रहण किया जायेगा।

साहब और ख़्वाजा हैदर अली 'आतिश' के कमाल ने लखनऊ को दिल्ली की क़ैद पाबंदी से आज़ाद कर दिया। उसे स्वयं में पूर्ण और आत्मनिर्भर बनाया। उनकी इस शैली को व्यापक स्वीकृति भी मिली। अब लोग जो चाहें कहें, हम रोक नहीं सकते।

— आब-ए-हयात : नासिख़ का संदर्भ

ज़ाहिर है कि बीसवीं शताब्दी का उदय एक नये रंग और नयी गति के साथ हुआ। नासिख़ के सम्बन्ध में जो राय उनके जीवन-काल में बन गई थी और उनकी मृत्यु के बाद भी प्रचलित रही, अब स्वयमेव धीरे-धीरे बदलने लगी। अब न वह दिल्ली रही, न लखनऊ। साहित्य और जीवन के सम्बन्ध चिंता के केन्द्र में आ गये। लेकिन इस शताब्दी में भी नासिख़ के विरुद्ध जो कुछ कहा गया, उसमें पुरानी आवाज़ों भी अनुगूंज सुनाई देती है। उनकी शायरी को रद्दी कहा गया। जब वह युग ही रद्द हो गया तो अब उनकी शायरी को कौन कहे ? नासिख़ और उनके रंग के तमाम शायर ऐसे क्लासिक्स की हैसियत अख़्तियार कर चुके हैं कि उनको पूरी तरह से निरस्त कर देने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। शायरी की शैली उनसे आगे बढ़ गई और भिन्न हो गई। यह एक स्वाभाविक परिवर्तन था। लेकिन भाषा-परिमार्जन और उनके द्वारा प्रणीत नई-नई शैलियाँ अब भी एक जीवित शक्ति हैं और उनके ऐतिहासिक महत्त्व को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। आज के रचनाकार उनसे सीख रहे हैं और लाभान्वित हो रहे हैं। इस समय भी यदि भाषा एवं अभिव्यक्ति की कोई समस्या उठती है तो इसे सुलझाने के लिए अन्य शायरों की तुलना में उनका दीवान ज्यादा प्रामाणिक प्रतीत होगा। उनकी अप्रतिम सामर्थ्य और भाषा-दृष्टि का रहस्य इसी बात में छुपा हुआ है।

मौजूदा दौर में भी जिन लोगों ने नासिख़ पर अपने विचार व्यक्त किये हैं, उनकी संख्या बहुत है। इनमें कुछ बड़े आलोचक भी शामिल हैं। प्रायः सभी ने उन्हें एक उस्ताद ओर युग-निर्माता के रूप में स्वीकार किया है जो ऐतिहासिक वास्तविकता या विवशता है। इन विचारों का जायज़ा लेना यहाँ सम्भव नहीं है। यहाँ केवल नियाज़ फ़तेहपुरी और फ़िराक़ गोरखपुरी के विचारों का उल्लेख करके इस बहस को समाप्त कर देना उचित रहेगा।

अब से कोई पचास-साठ वर्ष पहले नियाज़ ने नासिख़ की शायरी पर विचार करते हुए लिखा था :

"लखनऊ का मशहूर तरीन शायर (नासिख़) जिसने उम्र भर में सिर्फ़ ग्यारह शे'र लिखे।"

— निगार, जनवरी, १९३५

फिर उन्होंने अपनी पसंद के ग्यारह शे'र दे दिये हैं। यह दावा और शे'रो का ऐसा चुनाव अपने-आप में ऐसा अविवेकपूर्ण है कि इसे समीक्षा की भ्रांति ही कहा जा सकता है।

इससे आगे कहते हैं :

"इसमें शक नहीं कि शायरी में नासिख़ का अस्तित्व एक संक्रामक रोग की भाँति था जो सिर्फ़ लखनऊ तक सीमित नहीं रहा बल्कि उसने देहली को भी तबाह कर दिया। शाह नसीर और 'ज़ौक़' के अलावा दूसरे शायरों ने भी नासिख़ की तिलिस्मबंदी को स्वीकार किया।"

इसके बाद उन्होंने थोड़ी रियायत बरती और अपने समापन (पृष्ठ ६३१) में लिखा :

"उनकी (नासिख़) की ग़ज़लों में अलंकारों की प्रचुरता थी। शब्द-लाघव, शब्द-सौदर्य, अतिशयोक्ति और अरिंजित कल्पना उनकी विशेष कला थी। उनकी ग़ज़लगोई बिल्कुल मैकेनिकी किस्म की थी जिसका मानवीय भावनाओं से कोई सम्बन्ध न था। नासिख़ के उस्ताद होने में कोई संदेह नहीं लेकिन उनकी उस्तादी सिर्फ़ भाषा और कला तक सीमित थी। कभी-कभी ईश्वर जाने वे किस हालत में अपने रंग से अलग हटकर भाव-प्रधान शे'र भी कह जाते थे, जैसे :

मानअ् सहरानवर्दी[1] पाँव की ईज़ा[2] नहीं
दिल दुखा देता है लेकिन टूट जाना ख़ार का"

जून १९३८ के 'निगार' में नासिख़ पर फ़िराक़ गोरखपुरी का भी एक लेख मिलता है। जिसमें कई रोचक अंश हैं :

"नासिख़ का नाम आते ही कुछ ऐसा मालूम होता है मानो हुकूमत करना और लीडरी करना नासिख़ का पैदायशी हक़ था। इस शख़्स में वह तेवर है जो उर्दू के तमाम शायरों में हमें सिर्फ़ 'मीर' की याद दिलाता है। बहैसियत एक

---

१. जंगल-जंगल घूमने से रोकने वाला २. कष्ट, तकलीफ़

शायर के नहीं बल्कि बहैसियत एक इंसान के नासिख़ को 'मीर' का मिज़ाज मिला था। अंग्रज़ी साहित्य के इतिहास में नासिख़ की शख़्सियत हमें बैन जानसन और डॉक्टर सैमुएल की याद दिलाती है। अगर मीर की नाज़ुकदिमाग़ी पक्की है और आतिश का बाँकपन ठीक है तो हमें नासिख़ का ठोस होना भी स्वीकार करना पड़ेगा। नासिख़ पूरे हिंदुस्तान पर छा गया था और उसके प्रतिद्वन्द्वी भी उसका असर लिये बग़ैर न रहे। वह किसी माहौल, किसी मुल्क और किसी ज़माने में भी होता तो भी उसकी हस्ती ग़ैर मामूली हस्ती मानी जाती..... नासिख़ का कलाम चट्टान की तरह ठोस सही लेकिन यह चट्टान ऐसी शुष्क और भाव-शून्य नहीं कि ठोकर मारें तो इससे साफ़-सुथरे झरने भी न उबल पड़ें।"

इन विचारों के आलोक में वस्तुस्थिति को खोज पाना कोई कठिन कार्य नहीं है। नासिख़ की क़द्दावरी में कोई संदेह नहीं है, उनका ऐतिहासिक महत्व भी अटल है, एक साहित्य-स्रष्टा के रूप में उनकी गरिमा अक्षुण्ण है, आज भी उनसे प्रभाव ग्रहण किया जा रहा है। उर्दू भाषा को एक नया व्यक्तित्व देने की दृष्टि से देखें तो वे एक व्यक्ति के बजाय एक संस्था प्रतीत होते हैं। परिस्थितियों के अनेक उतार-चढ़ाव और परिवर्तनों के बावजूद किसी न किसी रूप में आज भी उनका महत्त्व बना हुआ है। जिस प्रकार विकास और परिवर्तन के बावजूद शब्द-कोश की स्थिति में भाषा के सिद्धांतों एवं शायरी के नियमों की ओर देखना आवश्यक लगता है, इसी प्रकार बहुत-सी स्थितियों में नासिख़ की ओर देखना भी आवश्यक प्रतीत होता है। वे अब एक दिल को छूने वाले शायर न सही लेकिन शब्द-कोश और भाषा के नियमों की पुस्तक अब भी हैं।

(३)

साहित्य के इतिहास में नासिख़ का महत्त्व उनके द्वारा किये गये साहित्य एवं भाषा सम्बन्धी सुधारों के कारण है। उनके साहित्यिक सुधारों ने शे'र गोई के नियमों और आग्रहों को सुदृढ़ बनाया। कुल मिलाकर उन्होंने क्लासिकी शायरी का मार्ग प्रशस्त किया, जो आज भी अपने-आप में एक प्रतिमान है। ऐसा नहीं है कि नासिख़ ने शायरी की कला पर कोई पुस्तक लिखी हो और न यह बात है कि

नासिख़ से पहले शायरी के नियमों का अस्तित्व नहीं था। समूचा शास्त्र मौजूद था। लेकिन पुराने शायर उसका पालन नहीं करते थे और न ही उसे विकास प्रदान करने में उनकी कोई रुचि थी। इसका मुख्य कारण यह था कि उनका दौर एक आरम्भिक दौर था जिसमें अच्छा साहित्य तो रचा जाने लगा था लेकिन शायरी के नियमों को लेकर मनमानी हो रही थी। शायर अपने निजी प्रतिमानों से काम लेते थे। नासिख़ ने इन नियमों पर गम्भीरता के साथ विचार किया और इन्हें निजी सीमाओं से बाहर लाकर एक शास्त्र का दर्जा दे दिया। उन्होंने किसी चीज़ की ईजाद नहीं की बल्कि शायरी को इधर-उधर की भटकनों से मुक्त किया । एक सीधे मार्ग का संधान किया और शायरी के कारवाँ के लिए एक सही और सुनिश्चित दिशा प्रदान की। उनके द्वारा निर्दिष्ट नियमों को स्थायी और अंतिम नहीं कहा जा सकता । ज़माना उन्हें बदलता जायेगा और नये सुधार सामने आते रहेंगे । यह ज़रूरी नहीं है कि एक बनी-बनाई परिपाटी हमेशा चलती रहे। सिर्फ़ यह ज़रूरी है कि कविता का कोई न कोई अनुशासन होना चाहिए। पुराने शायरों के यहाँ भी शायरी के नियम-क़ानून थे लेकिन उनमें बहुत गड़बड़ी थी। जिसका नतीजा यह हुआ कि तमाम पुरानी शायरी की बात तो अलग है केवल एक ही बड़े शायर के यहाँ (जैसे हातिम, मीर, सौदा, मीर सोज़ आदि) बहुत-से अंतर्विरोधपूर्ण शे'र खोजे जा सकते हैं और एक ही ग़ज़ल गो की ग़ज़लों में शक्ति और दुर्बलता दोनों के उदाहरण देखे जा सकते हैं । नासिख़ के युग में यह गड़बड़ी कम हुई और जहाँ तक सम्भव था, शायरी के नियमों में एक निश्चितता आई ।

नासिख़ के दूसरे कला-कौशल का सम्बन्ध भाषा से जुड़े हुए सुधारों से है। इस विनिबंध में नासिख़ के भाषा-सुधार के सम्बन्ध में जगह-जगह अनेक टिप्पणियाँ की गई हैं। अतएव यहाँ इनका सविस्तार उल्लेख अपेक्षित नहीं है। फिर भी दकनी युग से लेकर नासिख़ के युग तक उर्दू भाषा और साहित्य के विकास का संक्षेप में जायज़ा लेना ज़रूरी लगता है। इस युग के अंतिम छोर पर नासिख़ मौजूद हैं। वास्तविकता यह है कि उर्दू भाषा के विकास और प्रसार के पीछे जो असामान्य और एक हद तक अव्यवस्था सम्बन्धी कारण मौजूद रहे हैं। फलतः इस भाषा को शालीन साहित्य बनने में कुछ विलम्ब हुआ। इसका उद्भव उत्तर भारत में हुआ। लेकिन अपने जन्म के तुरंत बाद यह दक्षिण पहुँच गई और शीघ्र ही इसका प्रयोग साहित्य-रचना के लिए होने लगा। वहाँ इस भाषा का पालन-पोषण एक विशेष

भौगोलिक एवँ ऐतिहासिक परिवेश में हुआ। इस परिवेश ने इस भाषा को बहुत हद तक एक नयी अस्मिता प्रदान की। कुछ अरसे के बाद ऐतिहासिक कारणों से दकनी उर्दू उत्तर भारत में पहुँची तो इसके मुहावरे और लबो-लहजे में काफ़ी फ़र्क़ और अजनबीयत मेहसूस की गई। यहाँ अठारहवीं सदी में सामाजिक परिस्थितियाँ उर्दू साहित्य की वृद्धि के अनुकूल बन चुकी थीं। लेकिन विसंगति यह थी कि यहाँ कोई समुन्नत भाषा नहीं थी। अतएव अठारहवीं शताबदी का पूरा समय इस जद्दोजहद में बीत गया कि दकनी उर्दू को उत्तर भारत के मिज़ाज के अनुरूप ढाला जाये, दिल्ली में प्रचलित रेख़्ता[९] में से दक्षिणी प्रभाव को इस सीमा तक बाहर कर दिया जाय कि वह साहित्य-रचना के योग्य बनी रही। फलस्वरूप भाषा-सुधार का पहला दौर इसी समय से चल पड़ा जबकि दिल्ली की शायरी की चर्चा दिल्ली और आस-पड़ोस के क्षेत्रों में होने लगी थी। तदुपरांत भाषा-सुधार की दिशा में अठारहवीं शताब्दी में शाह हातिम (निधन १७८३ ई., ११९७ हि.) मज़हर जान जानाँ (१७८०-८१ ई., ११९५ हि.), क़ायम चाँदपुरी (१७९३-९४ ई.), मीर तकी 'मीर' (१८१० ई.) और मिर्ज़ा 'सौदा' (१७८०-८१ ई.) ने सराहनीय प्रयास किये। उन्होंने रेख़्ता को ग़ज़ल की प्रकृति के अनुरूप बनाया। जब अठारहवीं शताब्दी के अंत तक लखनऊ में एक साहित्यिक केन्द्र अस्तित्व में आया तो यही सुधरी हुई भाषा, जो दिल्ली से यहां घुमक्कड़ शायरों की मदद से पहुँची थी साहित्य के उद्देश्य के लिए व्यवहृत होने लगी। लेकिन शीघ्र ही यहाँ शायरों और लेखकों की ख़ालिस लखनवी पौद भी तैयार हो चुकी थी जिसने इस भाषा में वही गड़बड़ी और अव्यवस्था मेहसूस की जो कि उस समय दिल्ली के शायरों ने मेहसूस की थी जब दकनी उर्दू वहाँ नई-नई पहुँची थी। जिस तरह उस समय भाषा-सुधार की आवशकता मेहसूस की गई थी उसी तरह अब लखनऊ में इस भाषा को नया रूप-रंग देने की तीव्र आवश्यकता मेहसूस हुई। नया लखनऊ बन रहा था जिसके साज-सिंगार और निखार को लेकर एकदम नये ढंग से सोचा जा रहा था। यही सोच भाषा और शायरी में भी प्रतिबिम्बित होने लगा था। इन परिस्थितियों ने लखनऊ में भाषा सम्बन्धी सुधारों को अपरिहार्य बना दिया। अतएव साहित्यिक युवा तुर्कों का एक नया और प्रभावशाली वर्ग पैदा हो गया, नासिख़ इसके मार्ग दर्शक बन गये । वस्तुतः ये सुधार सामाजिक अपेक्षाओं का आवश्यक परिणाम थे लेकिन बाद में इन्हें नासिख़ का निजी योगदान

९. उर्दू भाषा का पुराना नाम

माना जाने लगा । वास्तव में नासिख़ या इन साहित्यकारों ने कोई नई चीज़ ईजाद नहीं की और न भाषा की ईजाद की जाती है। भाषा-सुधार का आशय केवल यह है कि बोले जाने वाले भण्डार में से, शब्दों और मुहावरों के ढेर में से ऐसे पदों का चयन कर लिया जाये जो कि सम्प्रेषणीयता और सौंदर्यबोध की दृष्टि से स्थानीय लोगों को ज़्यादा लाभदायक और उपयोगी प्रतीत हों। नासिख़ ने यही सुधार-कार्य किया था। उन्होंने जो कुछ ग्रहण किया उसके पीछे सामाजिक स्वीकृति मौजूद थी, जो उन्होंने त्याग दिया वह समाज द्वारा पहले ही त्यक्त हो चुका था इस सिलसिले में कहीं-कहीं मामूली अशुद्धियाँ हो सकती हैं और हुई भी हैं। लेकिन समग्रतः जो कुछ हुआ वह न सिर्फ़ सामाजिक अपेक्षाओं के अनुरूप था बल्कि उर्दू भाषा की प्रकृति के अनुरूप भी था। दिल्ली में यह भाषा सुसमृद्ध बन चुकी थी। लेकिन फिर भी इसमें अर्थवानता का अभाव और काफ़ी शिथिलता थी। कहीं-कहीं यह धूल-धूसरित और ज़ंग खाई हुई-सी प्रतीत होती थी। इसलिए चमक पैदा करने के लिए इस पर एक आख़िरी रंदे की ज़रूरत थी। यह काम दिल्ली में होना कठिन था इसलिए कि वह शायरी की रिवायतों के बोझ से दबी हुइ थी। लखनऊ इस काम के लिए उपयुक्त जगह थी जहाँ स्वतंत्र विवेक वाले और दिल्ली की रिवायतों से अलग होकर सोचने वाले साहित्यकार पैदा हो रहे थे। लखनऊ में सम्पन्न भाषा-सुधार के कार्य यथार्थ परिस्थितियों पर आधारित थे इसलिए बड़ी हद तक इन्हें दिल्ली में भी स्वीकार कर लिया गया और पूरे हिंदूस्तान में इन्हें और भी आसानी के साथ मान लिया गया। मीर और सौदा बहुत बड़े शायर थे लेकिन यह बात आज भी समझ में आती है कि यदि उनके पास नासिख़ और आतिश की भाँति एक अर्थ सम्पन्न और प्राणवान भाषा होती तो वे दोनों और भी बड़े शायर होते ।

नासिख़ ने भाषा को पुनर्संस्कारित करने के प्रयास में उन्हीं पक्षों पर ध्यान केन्द्रित किया जहाँ बिखराव और अव्यवस्था ज़्यादा थी भर्ती के शब्दों से भाषा का सौदर्य नष्ट हो जाता है। पुराने ज़माने के बहुत-से शायरों में यह दोष पाया जाता है। नासिख़ ने झोल-झाल को दूर किया और कथन-भंगिमा को चुस्त बनाया। जिससे स्वभावतः सौंदर्यात्मक विशेषताएँ पैदा हो गईं। उन्होंने शायरों के उच्चारण और मुहावरे को विश्वसनीय माना चाहे वह ग़लत ही क्यों न हो। लेकिन शायरों के प्रयोग में शिथिलता और बिखराव हो तो इसके अलावा रास्ता ही क्या हो सकता है कि शब्द-कोश में दिये गये उच्चारण को प्रामाणिक माना जाये। अतएव उन्होंने कोश में

निर्दिष्ट शब्द-रूपों पर बल दिया । उन्होंने यह निराकरण भी किया कि दूसरी भाषाओं के शब्द दबने न पायें। स्थानीय शब्द न दें तो अच्छा है। यदि दें तो कम दें क्योंकि उर्दू भाषा विभिन्न भाषाओं के शब्द-भण्डार से अस्तित्व में आई है। अतएव हर भाषा का हर शब्द उर्दू हो जाये और व्यवहृत होने लगे यह सम्भव नहीं है। उर्दू की विशिष्ट प्रकृति को देखते हुए स्थानीय बोलियों और अरबी व फ़ारसी के उन शब्दों को त्याग दिया जाये जिन्हें अनजाने में उर्दू शायरी में इस्तेमाल कर लिया गया था और जो शब्दौचित्य, सौंदर्य-बोध एवं पाठ्कीय अभिरुचि की दृष्टि से खटकते थे। बहुवचन बनाने के नियमों में एकरूपता हो। अत्फ़[१] व इज़ाफ़त[२] की एक निश्चित विधि होना चाहिए, यह निजी पसंद ओर नापसंद पर आधारित न हो। भाषा में फूहड़पन और अश्लीलता का पहलू न हो। नक्ली संज्ञाओं और क्रियाओं का प्रयोग कम से कम हो, यदि इनमें कुछ जोड़ा जाये तो वह पाठकों के रुचि के अनुरूप हो। अभिव्यक्ति दुरुस्त हो, अखरने वाले वर्ण और सदोष क्रियाएँ बंदिश में ख़राबी पैदा न करें। वाक्य-रचना सुगठित हो, वाक्यों में शब्दों की उलट-फेर न हो जो कि पुराने शायर के यहाँ बहुत मिलती है।

ये तमाम बातें कोई ऐसा साहित्यिक अपराध नहीं हैं जिसके कारण हम यह आरोप लगा सकें कि नासिख़ ने उर्दू भाषा को भारी क्षति पहुँचाई है। इन सुधारों से अनुमान होता है कि नासिख़ न केवल उर्दू भाषा की प्रकृति से बख़ूबी परिचित थे बल्कि वे यह भी जानते थे कि आज के संदर्भ में आवश्यक और उपयोगी क्या है ? नियम और विधान हमेशा कुछ स्वतंत्रताओं को बाधित करते हैं। नासिख़ द्वारा बनाये गये नियमों से भी ऐसा ही हुआ लेकिन भाषा के हित में यह कार्य बहुत उपादेय सिद्ध हुआ। नासिख़ के सुधारों पर प्रश्न-चिह्न खड़े किये गये। इनमें कुछ तो नासिख़ के वे समकालीन शामिल हैं जो पुरानी आदतों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे और कुछ आपसी टकरावों के कारण नासिख़ से भाषा ही नहीं हर मामले में असहमति प्रकट करने में प्रसन्नता अनुभव करते थे। इन्हे 'नासिख़' के उपनाम पर ही आपत्ति थी। वे यह दुष्प्रचार करते थे (जैसे तास्सुफ़) कि नासिख़ ने तमाम बुर्जुर्ग शायरों को मानो गलत ठहराया और उनकी भाषा को स्तर से गिरी हुई बताया। हालाँकि ऐस कोई बात नहीं की। इन बातों से अलग हटकर नासिख़ के भाषा

---

१ विभक्तियाँ, तत्पुरुष समास (हिंदी एवं संस्कृत) २. दो शब्दों के बीच में 'वाव' या कोई दूसरा अक्षर या शब्द लाकर उन्हें मिलाना।

सुधारों तथा स्वयं उनकी भाषा पर सिक्काबंद आपत्तियाँ होती रही हैं। शब्द बदल-बदल कर इन आपत्तियों का क्रम विगत एक शताबदी से जारी है। जैसे नासिख़ ने दिल्ली और लखनऊ की भाषा में भेद-भाव पैदा कर दिया। पुराने शायर काव्य-विषय के प्रति सजग रहते थे और इसी पर बल देते थे। नासिख़ ने शब्द और कथन के नियमों पर बल दिया इसलिए शे'र की रूह निकल गई। उन्होंने ऐसे शब्दों और तरकीबों का तिरस्कार कर दिया जिनका वे कोई विकल्प नहीं दे सके। उनके सुधारों के कारण भाषा का दायरा तंग हो गया, आदि।

ये सभी आपत्तियाँ निराधार है। नासिख़ ने काव्य-विषयों पर ध्यान देने से नहीं रोका है। विषय और अंतर्वस्तु तो हर शायर का निजी मामला है। प्रामाणिक शब्द, तरकीबें और भाषा की स्वाभाविक विशेषता कुछ ऐसी बातें हैं जिनमें सब शरीक हो सकते हैं। उन्होंने जिन शब्दों को असंगत और त्याज्य माना है उनकी संख्या आमतौर से पंद्रह-बीस से अधिक नहीं है। नासिख़ के युग में इतने-से शब्दों के कम हो जाने से भाषा पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। नासिख़ के अनेक पूर्ववर्ती बड़े शायरों ने कई शब्दों को बाहर कर दिया था। उनके द्वारा त्याज्य शब्दों की सूची नासिख़ की तुलना में कहीं अधिक लम्बी है। नासिख़ ने केवल स्थानीय नहीं, इससे अधिक अरबी व फ़ारसी के शब्दों का छोड़ा है। यह सही है कि उन्होंने उर्दू शे'र की बुनियाद फ़ारसी की ज़मीन पर रखने की कोशिश की। लेकिन यह भी तो बताया जाये कि उस समय चुस्ती और मिठास की दृष्टि से कौन-सी स्थानीय भाषा इतनी समृद्ध थी कि जिस पर उर्दू शे'र की बुनियाद रखी जा सकती। स्थानीय भाषाएँ अपने-आप में बेडौल ओर बिखरी हुई थीं और इसका उपचार यह नहीं हो सकता था कि उर्दू का बिखराव दूर करने के लिए उससे ज़्यादा बिखरी हुई भाषा का सहारा लिया जाता। फिर इसके अलावा उर्दू में शायरी करने वाले जाने-माने कलाकार फ़ारसी की तुलना में स्थानीय बोलियों से कम निकटता रखते थे। वास्तविकता यह है कि नासिख़ के सुधारों से भाषा का दायरा तंग नहीं हुआ और जितना तंग हुआ उसकी नये शब्दों के प्रवेश से क्षतिपूर्ति भी हो गई और बहुत-सी नई तरकीबों ने कमी भी पूरी कर दी। दरअसल नासिख़ ने ज़्यादा संशोधन कर डाले। भाषा को संकीर्ण बना दिया और उसके प्रयोग के नियमों को ज़्यादा कठोर बना दिया। हमें हमेशा नासिख़ के सुधार तथा नासिख़ के परवर्ती सुधारों में अंतर करना चाहिए। नासिख़ के बाद तो लोगों ने बहुत-से उन शब्दों और तरकीबों को भी त्याग दिया जिनका प्रयोग स्वयं नासिख़ कर गये थे। एक ओर नासिख़ पर भाषा को संकीर्ण

बनाने का आरोप है, दूसरी ओर अरबी व फ़ारसी के बेमेल और अजनबी शब्दों का बहुतायत के साथ व्यवहार करने का भी आरोप है। इस सिलसिले में कई बोझल और अजनबी शब्दों की सूची भी दी गई है (मरातुलमुसन्नफ़ीन : मुहम्मद याह्या) यह सूची यदि बढ़ा भी दी जाये तो तीन-चार दर्जन से ज़्यादा शब्द न निकलेंगे। इस आरोप की असलियत भी यह है कि शब्दों के बोझल और अजनबी होने को लेकर आज के पाठकीय-बोध को निकष नहीं बनाया जा सकता। नासिख़ के युग में शिक्षा की स्थिति और स्तर पर गौर करना चाहिए। वह अरबी-फ़ारसी शिक्षा का दौर था। आज जो शब्द अनुचित और असंगत प्रतीत होता है, वह आवश्यक नहीं कि नासिख़ के युग में भी ऐसा ही रहा हो। बहुत सम्भव है कि उस ज़माने में न केवल उचित समझा जाता हो बल्कि आम बोल-चाल में भी प्रचलित रहा हो। इसके अलावा यह बात ठोस प्रमाणों के आधार पर कही जा सकती है कि यदि मीर, मिर्ज़ा, शाह नसीर, ज़ौक़ और ग़ालिब द्वारा प्रयुक्त बोझल और अजनबी शब्दों की सूची तैयार की जाये तो इसकी तुलना में नासिख़ की शायरी से चुनी गई ऐसी ही सूची छोटी होगी।

भाषा-सुधार के सिलसिले में नासिख़ के कारनामों पर स्वयं उनके युग में और उनके बाद प्रशंसात्मक प्रतिक्रियाएँ भी सामने आती रही हैं। इनकी संख्या बहुत अधिक है। इनका सविस्तार उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। संक्षेप में कुछ प्रतिक्रियाएँ यहाँ दी जा रही हैं। सफ़ीर बिलगरामी का बयान है :

> "ग़ालिब से एक दिन कुछ देहली और लखनऊ की ज़बान का ज़िक्र आ गया। फ़रमाया, मियाँ अगर मुझसे पूछते हो तो ज़बान को ज़बान कर दिखाया तो लखनऊ ने और लखनऊ में नासिख़ ने वरना बोलने को कौन नहीं बोलता । अब जिसका जी चाहे तराश-ख़राश रोज़ करे मगर मेरे नज़दीक वह तराश-ख़राश की जगह ही नहीं छोड़ गया.....नासिख़ के क्लाम ने देहली में आकर सबको हैरान कर दिया और क़ायदे के साथ मतलब का वाज़ह[1] तौर से अदा होना दिलों को बरंगेख़्त[2] करने लगा। यहाँ तक कि शायरों ने इधर रग़बत[3] की निगाह से देखा।"

– जल्वा-ए-ख़िज़्र : पहला भाग

हसरत मोहानी अपने उस्ताद के उस्ताद नसीम देहलवी के बारे में लिखते हैं :

---

१. प्रकट या व्यक्त होना २. उत्तेजित ३. अभिलाषा, चाह

"मिर्ज़ा नसीम के इंसाफ़ को भी देखना कि बावजूद अपनी आन-बान और प्रतिष्ठा के उन शब्दों की उपेक्षा कभी नहीं की, नासिख़ ने जिनकी पैरवी की थी। नासिख़ की मौत के बाद उन्होंने बड़े कमाल के साथ बिना किसी मन-मुटाव के यह शे'र लिख दिया :

'नासिख़' मग़फ़ूर[1] था उस्ताद-ए-यक्ता[2] ऐ 'नसीम'
लखनऊ वालों में वो सबसे निराला हो गया"

– उर्दू-ए-मुअल्ला, नवम्बर, १९०३

मीर मुहम्मद ज़ायर जिसने नासिख़ को बहुत देखा था, कहता है:
"उस समय शायरी की कला, अनुसंधान और शब्द-ज्ञान में उनका कोई सानी न था।"

– क़ैसरुल तवारीख़, ७२/२

इम्दाद इमाम असर, नासिख़ द्वारा किये गये भाषा-सुधारों के ज़बर्दस्त प्रशंसक हैं। उन्होंने कई जगह विस्तार के साथ उनका ज़िक्र किया है :

"शेख़ ने उर्दू का तराश-खराश कर ऐसा दुरुस्त कर दिया कि अब उसका मज़ा और साफ़-सुथरापन फ़ारसी से कुछ कम मालूम नहीं होता। बेशक उर्दू ज़बान शेख़ की तमाम कोशिशों की बहुत शुक्रगुज़ार है। अगर जनाब शेख़ ज़बान में सुधार की तरफ़ तवज्जा न देते तो आज की ज़बान की यह सूरत न होती।"

हसरत मोहानी, नासिख़ के इन प्रयासों के बारे में अपना अभिमत व्यक्त करते हुए लिखते हैं :

"उनके (नासिख़) बाद उनकी भाषा इस क़दर लोकप्रिय हुई कि परवर्तियों में से तक़रीबन हर शायर ने इसी को अपनाया। मिर्ज़ा 'दाग़' ही को देख लीजिए। अंदाज़-ए-बयाँ और कुछ मुहावरे अलग हैं बाकी ज़बान नासिख़ की है।"

इन उदाहरणों को यदि बढ़ाया जाये तो पूरी पुस्तक तैयार हो सकती है। उनके एक शागिर्द कल्ब हुसैन 'नादिर' ने उनके भाषा-विषयक योगदान पर केन्द्रित एक पुस्तक 'तल्ख़ीज-ए-मुअल्ला' तैयार कर डाली है और लिखा है कि :

१. जिसे मोक्ष हो गया हो, दिवंगत २. बेनज़ीर उस्ताद

"नासिख़ अलेह उर्रहमान ने पूरे विवेक के साथ अपने युग में शब्दकोश एव व्यवहार की भाषा के दोषों को दूर करके एक ऐसी स्वच्छ और शालीन भाषा का निर्माण किया जिसे सभी शायरों और कलामर्मज्ञों ने स्वीकार किया। सबने वही ढंग अपनाया, सभी ने इसका पक्ष लिया और अनुसरण किया।"

इन तमाम प्रतिक्रियाओं से, जो यथावसर इस विनिबंध में उल्लिखित की गई हैं, नासिख़ के भाषा-सुधारों की अखिल भारतीय महत्ता का अनुमान होता है। ये सुधार समय की माँग थे। इन्हें अंतिम नहीं कहा जा सकता और न ऐसा ही है कि भविष्य में कभी भाषा-सुधारों की ज़रूरत मेहसूस नहीं होगी।

नासिख़ के सुधारों की सफलता का रहस्य इस बात में है कि उन्होंने एक जाग्रत चेतना और पवित्र अभिरुचि को प्रसारित किया। उन्होंने केवल शे'र के लिए नही बल्कि सुंदर और प्रांजल भाषा के लिए समाज में आम बोल-चाल के मुहावरे में भी त्वरित प्रभाव उत्पन्न किया। उन्होंने केवल शे'र की नहीं बल्कि लखनऊ शहर की भाषा भी बदल डाली। इसीलिए रजब अली बेग 'सुरूर' ने 'फ़साना-ए-अजायब' में लिखा है :

बुलबुल-ए-शीराज़[1] को है रश्क नासिख़ का 'सुरूर'
इस्फ़हान[2] उसने किये हैं कूचहाए-लखनऊ[3]

---

१. ईरान का प्रसिद्ध नगर जहाँ हाफ़िज़ और सादी रहते थे।

२. ईरान का एक प्राचीन और प्रसिद्ध नगर ३. लखनऊ की गलियाँ

तीसरा अध्याय

(१)

नासिख़ का अध्ययन करते समय लखनऊ के उस समूचे वातावरण को ध्यान में रखना ज़रूरी है जिसका अपना एक ख़ास अंदाज़ और मिज़ाज था और जिसने बड़ी संख्या में ऐसे कलाकारों को जन्म दिया जो इस परिवेश की विशिष्टता को अपनी रचनाओं में भावपूर्ण अभिव्यक्ति देने में समर्थ हों। नासिख़ न केवल इस परिवेश की उपज थे बल्कि निजी प्रयासों से निर्मित अपने कवि-व्यक्तित्व के कारण इस परिवेश से एक विशिष्ट और स्वाभाविक अनुरूपता भी रखते थे। उनकी प्रकृति और इस परिवेश के बीच अद्भुत ताल-मेल था। इसलिए परिवेश ने उन्हें बनाया भी और फिर अपनी सृजनात्मक क्षमताओं के माध्यम से उन्होंने स्वयं परिवेश का निर्माण भी किया। इस प्रकार इस परिवेश का जायज़ा स्वभावतः नासिख़ का जायज़ा बन जाता है और नासिख़ के काव्य-कौशल का जायज़ा स्वयं उस युग की विशिष्टताओं का जायज़ा बन जाता है। वास्तव में यह रूप एवं शिल्प के उपादानों को विकसित करने का युग था और यही बात नासिख़ के सिलसिले में भी अध्ययन का आरम्भ-बिंदु है।

कला की दृष्टि से यदि देखें तो नासिख़ का अध्ययन केवल शिल्प तक सीमित है। उनकी शायरी में ज़िंदगी का कोई ऐसा अछूता शे'र नहीं मिलता है जिसे उनकी जीवन-दृष्टि का आधार बनाया जा सकता। उनके यहाँ आमतौर से भावनाओं की वह गहराई भी नहीं मिलती है जो प्रायः यथार्थ-चित्रण का आधार बन जाती है। वे असल में कल्पना के शायर हैं। इसलिए भाषा एवं शिल्प का संतुलित प्रयोग उनकी कला की मुख्य विशेषता है। यदि सच्चाई को देखा जाये तो कुछ मामूली तत्त्वों को छोड़कर शायरी के सिलसिले में तीन ही चीज़ों की सबसे ज़्यादा अहमियत होती है–दृष्टिकोण, भाव और कल्पना। ये तीनों चीज़े तकनीक की सहायता से एक विशेष रूप में ढलती हैं या कलाकार के प्रयास से ढाली जाती हैं। कलाकार दृष्टिकोण को

दो स्रोतों से प्राप्त करता है—एक, निजी जीवनानुभव और दूसरे सांस्कृतिक विरासत से प्राप्त अनुभव। कलाकार के यहाँ जीवन का जितना गहन और व्यापक निरीक्षण होगा या जितने सही कोण से उसने जीवन को देखा होगा, इसके साथ ही जीवंत और जर्जर अनुभवों के बीच चुनाव का जितना विवेक होगा, उसका दृष्टिकोण भी उतना ही स्वस्थ और स्पष्ट होगा। कला की दिशा में अगला क़दम कलाकार भावों की स्फूर्ति की सहायता से उठाता है। दृष्टिकोण और भावों के लिए कला के अंतिम सोपान तक पहुँचने के लिए कोई चैनल चाहिए। कल्पना एक ऐसा ही चैनल या निकासी का मार्ग है जिसके बाद तकनीक, शिल्प और शैली आदि शे'र को अंतिम आकार दे देते हैं। यदि यह समूची प्रक्रिया उचित ढंग से सम्पन्न होती है तो काव्य-सौंदर्य पाठक के हृदय को अभिभूत कर देता है।

इस समूची प्रक्रिया पर यदि दृष्टिपात् किया जाये तो नासिख़ शिल्प एवं शैली के शायर हैं। उनकी कोई निजी जीवन-दृष्टि नहीं है। उनके यहाँ भाव-सम्पदा भी कम है। वे ग़ज़ल गोई करते हैं लेकिन प्रेम उनके लिए एक ऐसी आग है जो कल्पना को आलोकित तो कर सकती है लेकिन भावों को प्रवाहमान और गतिशील नहीं बना सकती। उनकी कल्पना में निःसंदेह ऊँचाई है। शब्द-चयन और उनका संयोजन भी माहिराना है जिससे एक प्रभावशाली तर्ज़ निकल कर आती है। लेकिन इन तमाम चीजों का सम्बन्ध विषय से न होकर शिल्प और उसकी समस्याओं से है।

नासिख़ असल में भाव के नहीं बल्कि ख़्याल के शायर हैं। इसलिए उनके यहाँ सम्प्रेषण का वही रूप मिलता है जिसकी ख़्याल की शायरी में ज़रूरत पड़ती है। हर साहित्य में भाव और विचार के सम्प्रेषण में अंतर दिखाई देता है। भाव अपनी प्रकृति से जटिल नहीं होता। भाव को हम सभी प्रकार की जटिलताओं और घुमाव-फिराव से मुक्त एक तरंग कह सकते हैं जिसको न किसी हवाई कोशिश से पैदा किया जा सकता है और न ही पैदा होने से रोका जा सकता है। एक ऐसी आग है जो लगाये न लगे और बुझाये न बने। भाव गहरा हो सकता है, तीव्र हो सकता है लेकिन जटिल नहीं होता है और न भाव के लिए इस विशेषण का प्रयोग कभी किया जाता है। भावों में जटिलता का अहसास उस समय होता है जब उसमें असंगत तत्त्व शामिल कर दिये जाते हैं। सच्चा भाव सरल और अर्थवान् शब्दों में व्यक्त हो सकता है। श्रोता का मस्तिष्क भी इसे बिना किसी ज्योतिष या वैज्ञानिक प्रमाण के स्वीकार कर लेता है।

इसलिए भावों के सम्प्रेषण में शब्द-चमत्कार की गुंजायश नहीं होती है। विचार की स्थिति इससे भिन्न है। वह जितना बुलंद होगा या फैलेगा उसी अनुपात में जटिल होता जायेगा। कल्पना में क्योंकि भाव की भाँति कई चीज़ों का मिश्रण नहीं होता है इसलिए इसे बाह्य प्रमाणों से पुष्ट करने की ज़रूरत होती है। किसी भाव के संदर्भ में 'क्यों' का सवाल पैदा नहीं होता। लेकिन विचार को लेकर हम तुरंत सोचते हैं, 'क्यों' और 'कैसे'? इसलिए एक कलाकार विचार को अपने शायराना सबूतों सहित श्रोता तक पहुँचाता है। भाव मात्र भाव होने के कारण स्वीकार्य बन जाता है। विचार मात्र विचार होने के कारण स्वीकार के योग्य नहीं बनता बल्कि इसके लिए अलग से भरोसा दिलाना पड़ता है। किसी भी सामूहिक सोच में सम्प्रेषण की स्थिति भाव और विचार के अनुपात के आधार पर बदलती रहती है। भाव और विचार के सम्प्रेषण में जो दूरी है उसे 'मीर' और नासिख़ की शैली को सामने रखकर आसानी से महसूस किया जा सकता है। ग़ालिब इस प्रयोजन के लिए शायद अच्छी मिसाल साबित न हों। इसलिए कि उनकी शायरी के कच्चे माल में भाव और विचार के अनुपात में ज्यादा अंतर नहीं है।

भाव और विचार के अंतर को हम नासिख़ की शायरी में मौजूद अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण के विभिन्न रूपों के माध्यम से समझ सकते हैं :

वो नहीं भूलता जहाँ जाऊँ
हाय मैं क्या करूँ कहाँ जाऊँ

निःसंदेह यह शे'र भावों से परिपूर्ण है। कथन-भंगिमा और अर्थ की दृष्टि से भी इसमें विचार का हस्तक्षेप प्रतीत नहीं होता। इस शे'र की गणना उर्दू के बेहतरीन शे'रों में की जा सकती है। इस शे'र के सामूहिक प्रभाव और हमारे मन पर होने वाली विशिष्ट प्रतिक्रिया को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है। क्योंकि शे'र की बुनियाद भाव पर है इसलिए यह शे'र उपमा, प्रतीक एवं अन्य अलंकारों की अपेक्षा नहीं रखता है। न ही शे'र में जटिल पदावलि का प्रयोग किया गया है और न बोझल शब्द है। कोई प्रमाण भी नहीं जुटाया गया है। भाव स्वयं ही अपनी व्याख्या बन गया है। इसके विपरीत विचार-बोझल सम्वेदना के सम्प्रेषण को समझने के लिए स्वयं नासिख़ के ही बहुत-से शे'र हैं जिन्हें बिना किसी आयास के उनके दीवान के किसी भी पृष्ठ से चुना जा सकता है। उनके पहले दीवान की पहली ग़ज़ल का ही शे'र है:

चमकना बर्क़ का लाज़िम पड़ा है अब्र-ए-बाराँ[1] में
तसव्वुर[2] चाहिए रोने में उसके रू-ए-ख़ंदाँ[3] का

रुदन की वर्षा से उपमा देना एक पुराना विषय है। नासिख़ के भीतर विचार की प्रेरणा है इसलिए वे पुरानी उपमा में एक नया अर्थ भर के अपनी पूरी बात कहते हैं या वे एक पुराने विषय में नयापन पैदा करना चाहते हैं। अब्र-ए-बाराँ (वर्षा का बादल) के बाद बर्क़ (बिजली) की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। बर्क़ तक पहुँच कर रू-ए-ख़ंदाँ (हर्षित मुख) को प्राप्त कर लेना नासिख़ जैसे विचार-सम्पन्न शायर के लिए कठिन नहीं है। यदि शे'र पर दृष्टिपात किया जाय तो विचार के विकास की प्रक्रिया सप्रमाण सामने आ जाती है। इसी प्रकार नासिख़ का एक और शे'र है जो विचार-सम्पन्नता और सम्प्रेषण का अनूठा उदाहरण है :

मू-ए-आतिश दीदा[4] बनता है मिरा तार-ए-निगाह
ऐसे उस आतिश के परकाले[5] के हैं रुख़सार[6] गर्म

आतिश (आग) और गर्मी के ज़िक्र के बावजूद शे'र में भावों की ऊष्णता मौजूद नहीं है, एक ऐसा तिलिस्माती माहौल है जिसमें कलात्मक प्रयासों के माध्यम से एक अस्वाभाविक विचार को ग्राह्य एवं विश्वसनीय बनाकर प्रस्तुत किया गया है। उक्त दोनों शे'र एक विशिष्ट सृजनात्मक स्थिति और विचारसम्पन्नता का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसकी छाप नासिख़ की ज़्यादातर शायरी पर लगी हुई है। इस प्रकार के शे'र उस साँचे और उस मानसिक गठन को उजागर करते हैं जिसमें नासिख़ की कला को ढलने का अवसर मिलता है। अतएव नासिख़ की रचना-प्रक्रिया का स्वरूप कुछ इस प्रकार बनता है—मूल विचार, अप्रस्तुत विधान की सहायता से विचार के विभिन्न पहलुओं को एक सूत्र में बांधना, भाषा एवं सम्प्रेषण को दुरुस्त करना और फिर तमाम तत्त्वों को काल्पनिक प्रमाणों के साथ शायराना ढंग से एक व्यवस्था देना।

अभिव्यक्ति की कुछ विशिष्ट शैलियाँ हैं। अधिकांश शायरों ने इन्हीं से काम लिया है। ये शैलियां हैं—उपमाएँ, प्रतीक-विधान, मनःस्थिति के विभिन्न रूप, अतिशयोक्ति, वर्ण-विपर्यय, रूपक और कभी-कभी नाटकीयता। यदि इन शैलियों का प्रयोग किसी बड़े उद्देश्य या भाव-चित्रण के लिए किया जाता है तो इनकी आयु में

१. वर्षा का बादल २. कल्पना ३. हर्षित मुख ४. आग में तपाया हुआ बाल जो टेढ़ा हो जाता है ५. चिनगारी, स्फुलिंग ६. कपोल

वृद्धि हो जाती है और ये शैलियाँ एक जीवित फ़ार्म की हैसियत प्राप्त कर लेती हैं। इसके विपरीत यदि इन शैलियों के पीछे 'कला कला के लिए' दृष्टिकोण निहित है तो थोड़ी देर चकाचौंध पैदा करके आत्माविहीन शरीर की भाँति निर्जीव पड़ी रहती हैं। नासिख़ के यहाँ यही रूप मिलता है। इसलिए उनके ज़्यादातर शे'र जीवन के ताप से रहित हैं। उनका शिल्प आकर्षक है किंतु भाव-पक्ष दुर्बल है। भाव का शायर भी विचार से बचाव नहीं कर सकता है लेकिन उसकी दुनिया अपेक्षाकृत काल्पनिक हुआ करती है। नासिख़ की दुनिया में विचारों की रंगारंग तस्वीरें हैं। ऐसी भरी-पूरी तस्वीरें दुनिया उर्दू के बहुत कम शायरों के हिस्से में आई है:

दूर है यार अपनी नज़रों से तसव्वुर में क़रीब
घर तो वीराँ है मगर बज़्म-ए-ख़्याल आबाद है

घर की यह वीरानी भाव की कमी के कारण है। विचारों की महफ़िल ज़रूर बहुत आबाद है लेकिन इसमें मौजूद लोग उतने मानवीय प्रतीत नहीं होते और उनके दिलों की धड़कन सुनाई नहीं देती।

(२)

भाषा के सौंदर्य-उपादानों के अभाव में शायरी का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। नासिख़ की शायरी में अलंकारों का अतिशय प्रयोग मिलता है। उनके यहाँ अलंकार साधन के बजाय साध्य बन जाते हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त सभी अलंकारों का वर्णन यहां असम्भव है। इसकी अपेक्षा भी नहीं है। यहाँ सिर्फ़ कुछ अलंकारों की चर्चा की जा रही है।

नासिख़ द्वारा प्रयुक्त अलंकारों में रूपक विशेष महत्त्व रखता है। यह बात हमें ध्यान में रखना चाहिए कि रूपक-चित्रण स्वयं में कोई दोष नहीं है। फ़ारसी या उर्दू में कोई ऐसा शायर नहीं मिलेगा जिसने रूपक का प्रयोग न किया हो। बेदिल, नासिर अली और शौकत की गणना उन हिंदुस्तानी फ़ारसी गो शायरों में की जाती है जिनके यहाँ रूपक-चित्रण की बहुलता है। उर्दू के पुराने शायरों पर भी उनका काफ़ी असर दिखाई देता है। फ़ारसी नस्ल के शायरों में 'साइब' को रूपक का सम्राट समझा जाता है। रूपक-चित्रण में रुचि रखने वाले उर्दू शायरों को सबसे ज़्यादा

साइब ने प्रभावित किया है। रूपक के क्षेत्र में नासिख़ ने भी अन्य शायरों की अपेक्षा साइब से ज़्यादा प्रभाव ग्रहण किया :

जिस शबिस्ताँ[1] में हो 'साइब' कल्क[2] 'नासिख़' शोलाज़न[3]
चाक साज़-ओ-जामा-ए-फ़ानूस रा बर्तन चिराग़[4]

एक अभौतिक विषय के लिए भौतिक उपमान खोजना रूपक-चित्रण की मुख्य विशेषता है। रूपक खड़ा करने के लिए कभी-कभी दूसरे अलंकारों का प्रयोग भी ज़रूरी हो जाता है ताकि उपमेय और कल्पनाशक्ति द्वारा बीच के शून्य को भर लिया जाये। इसमें मुराआतुन्नज़ीर[5] अलंकार बहुत काम आता है। लेकिन इसके प्रयोग से शायर के भाव धूमिल हो जाते हैं और सम्प्रेषण में बाधा उत्पन्न होती है। यह बात 'साइब' के यहाँ भी नज़र आती है और इसीलिए साइब को फ़ारसी में एक बड़े शायर से ज़्यादा एक उस्ताद और अलंकारवादी के रूप में जाना जाता है। नासिख़ के साथ भी कुछ ऐसे ही मिले-जुले कारण रहे। इसलिए उनका अंजाम भी यही हुआ। उन्हें बड़े शायर के रूप में कम तथा बड़े उस्ताद और अलंकारवादी के रूप में ज़्यादा स्वीकार किया।

इस रुझान को देखते हुए यह नहीं मान लेना चाहिए कि नासिख़ की शायरी में रूपक के शालीन और सुंदर उदाहरण नहीं मिलते हैं। उर्दू शायरी के लगभग ढाई सौ वर्ष के इतिहास में कोई ऐसा शायर नहीं है जो रूपक-चित्रण में नासिख़ से अधिक सामर्थ्य रखता हो। नासिख़ के इस कौशल को लेकर सभी पुराने आलोचक एकमत हैं। इस मामले में कोई भी दूसरा शायर उनके मस्तिष्क की उर्वरता का मुक़ाबला नहीं कर सकता। उन्हें नीति-सम्बन्धी विषयों के रूपक में अधिक सफलता मिली है। ये दोनों बातें उस युग के आम रुझान से काफ़ी मेल रखती थीं। इसलिए नासिख़ को एक बड़ा दर्जा प्रदान करने में नीति-सम्बन्धी रूपकों की विशेष भूमिका रही है। उनकी ग़ज़लों में इसके उदाहरण जगह-जगह बिखरे हुए हैं। इस प्रवृत्ति से जुड़े कुछ बेहतरीन शे'र यहाँ दिये जा रहे हैं :

---

१. शयनागार २. बग़ल, गोद ३. आग बरसाता हुआ ४. फ़ानूस भी अपने लिबास को चाक कर देता है और चिराग़ की तरह हो जाता है ५. एक शब्दालंकार जिसमें एक वस्तु के साथ उससे सम्बद्ध अनेक वस्तुओं का उल्लेख हो जैसे धनुष के साथ बाण, निषंग और प्रत्यंचा आदि।

छोड़कर अपनी ताल्ली[१] कर तवाज़ा[२] अख़्तियार
रुत्बा मस्जिद के मिनारे का है कम मेहराब से
बेसबाती[३] है निहायत हुस्न-ए-बेनामूस[४] को
पायदारी[५] होती है कब्र शमअ् बेफ़ानूस को

जितने हैं साहब सुखन[६] उनकी तबीयत नर्म है
है दलील इस पर जबाँ में अस्तुख़्वाँ[७] होता नहीं

मर्तबा कम हिर्स-रिफ़्अत[८] से हमारा हो गया
आफ़ताब ऐसा हुआ ऊँचा कि तारा हो गया
जो दिल ही टूट गया क्या हो शे'र तर पैदा
हुए हैं शाख़-ए-शिकस्ता[९] से कब समर[१०] पैदा

रूपक के बाद अतिशयोक्ति है जिससे नासिख़ की शायरी भरी पड़ी है। अतिशयोक्ति एक ऐसा तत्त्व है जिसे शायरी से अलग करना सम्भव नहीं है। दरअसल अतिशयोक्ति शायरी के उन ज़रूरी उपादानों में से है जो शायर के अनुभवों की सच्चाई को लेकर पाठक को विश्वास दिलाती है। लेकिन बात तभी बनती है जबकि इसमें संतुलन हो। जिस युग में नासिख़ और दूसरे बड़े शायर पैदा हुए, वह राजतंत्र और जागीरदारी का युग था। उसमें क़सीदा लिखने का रिवाज बहुत था। अतिशयोक्ति के आत्यंतिक प्रयोग के लिए बहुत बड़ा हुनर समझा जाता था। क़सीदे में अतिशयोक्ति एक स्थायी प्रवृत्ति बन चुकी थी। दूसरे काव्य-रूपों जैसे ग़ज़ल में भी इस प्रवृत्ति से पीछा छुड़ाना सम्भव नहीं था। इसलिए उर्दू का बड़े से बड़ा और ग़ज़ल विधा पर अच्छा अधिकार रखने वाला शायर भी अस्वाभाविक अतिशयोक्ति से कम ही बचाव कर सका है। नासिख़ ने क़सीदा निगारी के मैदान में कोई ख़ास हस्तक्षेप नहीं किया। लेकिन उससे संगति रखने वाला मिज़ाज उनके पास था। अनेक कारणों से वे क़सीदों में तो अपना कमाल न दिखा सके। इसलिए ग़ज़ल में ही अतिशयोक्तियों को स्थान देकर उन्होंने संतोष कर लिया। हालाँकि ग़ज़ल प्रकृति

१. डींग, शेख़ी २. विनम्रता, सहृदयता ३. नश्वरता, क्षणभंगुरता ४. लज्जाहीन, अमर्यादित
५. स्थायित्व ६. वाणी का धनी, शायर ७. हड्डी, अस्थि ८. ऊँचा उठने की आकांक्षा
९. टूटी डाली १०. फल

को इससे काफ़ी हद तक क्षति पहुँची। जिस युग में नासिख़ अपनी शायरी में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन से काम ले रहे थे, एक तो उसमें अतिशयोक्ति को आमतौर से पसंद किया जाता था, दूसरे साहित्यिक रुचि रखने वाले लोग अरबी व फ़ारसी के प्रभाव के कारण अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन से अभिभूत हो जाया करते थे। निम्नांकित शे'रों में शायर ने अतिशयोक्ति का आश्रय लिया है। ये शे'र नासिख़ की निजता ही नहीं बल्कि उस दौर की आम प्रवृत्ति को उजागर करते हैं :

आतिश-ए-रंग-ए-हिना[१] से मछलियाँ जलने लगीं
आपने धोये जो दरिया के किनारे हाथ-पाँव
आतिशीं चेहरे से हर शाहिद[२] मज़्मून 'नासिख़'
क्या अजब गर मिरे अशआर का दफ़्तर[३] जल जाये
लागर[४] हैं हम ऐसे कि निगल जाये जो चूँटी
अटके न हमारा बदन-ए-ज़ार[५] गले में

कभी-कभी अलंकारों का साभिप्राय प्रयोग अर्थ में नयापन और गहराई पैदा करने में सहायक बन जाता है। लेकिन जब किसी शायर को आदत-सी पड़ जाती है तो इसका परिणाम अच्छा नहीं होता। रचना में सायासता आ जाती है। सम्वेदना कुण्ठित हो जाती है। शब्दार्थ के चमत्कार से यद्यपि नई-नई बातें पैदा हो जाती हैं लेकिन इससे मन को बाँधने वाले भाव-तत्त्व को क्षति पहुँचती है याने खूने-जिगर की सुर्ख़ी व गर्मी जाती रहती है। चमत्कार से उत्पन्न नई बात बिजली की भाँति चकाचौंध पैदा करके लुप्त हो जाती है। उसमें हृदय और मस्तिष्क में उतरने की क्षमता नहीं होती। नासिख़ की आलंकारिकता में भी यही बात पाई जाती है। उनका कल्पनाशील मन नये विषयों की खोज से कभी नहीं थकता लेकिन ये विषय एक क्षणिक प्रभाव पैदा करके चुक जाते हैं। ग़ज़ल के अच्छे शे'रों की प्रामाणिक विशेषता यह होती है कि उन्हें बार-बार पढ़ा जा सकता है और शाश्वत प्रभाव होने के कारण भिन्न-भिन्न अवसरों पर उनके नये-नये अर्थ प्रकट हो सकते हैं। नासिख़ के यहाँ चमत्कारप्रियता के कारण ठीक इससे विपरीत स्थिति है। कहीं-कहीं अलंकारों ने उनके अछूते भावों में नई आभा उत्पन्न कर दी है। लेकिन उनकी तमाम विशेषताओं का जायज़ा लेने के लिए एक ही नज़र काफ़ी होती है, दूसरी नज़र का कोई औचित्य ही

---

१. मेंहदी के रंग की आग २. साक्षी ३. शे'रों का संग्रह या बहुत से काग़ज़ जिन पर शे'र लिखे हों ४. क्षीण ५. कमज़ोर शरीर

नहीं रह जाता। बहुत सम्भव है कि दूसरी नज़र डालने पर कुछ दोष ही सामने आ जायें और शे'र की रही-सही मिठास भी जाती रहे :

जानते हैं जिसको सब तार-ए-नफ़स[1]
तौसन-ए-उम्र-रवाँ[2] की बाग है
आब-ओ-गुल में उड़ गया है तौसन-ए-उम्र रवाँ
तोड़ कर तार-ए-नफ़स को ताज़ियाना[3] कीजिए
खिले नहीं दहन-ए-तंग[4] से हँसी में दाँत
चमक है जुगनुओं की आशियान-ए-अन्क़ा[5] में
गुज़रता हूँ अगर बाज़ार से मैं जोश-ए-सौदा में
रवाँ हर संग होता है मेरी जानिब तराज़ू से
मानी समर[6], हरूफ़ वरक़, सनअतें[7] हैं गुल
'नासिख़' है कल्क[8]-ए-फ़िक्र निहाले-सुख़न[9] की शाख़

इस प्रकार के शे'र नासिख़ के कुल्लियात में बहुत हैं जहाँ विचारों की ऊँची उड़ान तो मिलती है लेकिन ये शे'र ग़ज़ल की मूल प्रवृत्ति के कितने नज़दीक हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। वे शब्दों में संगति बैठाकर शे'रों के ढेर लगा देते हैं। लेकिन सिर्फ़ भाषा-सौंदर्य में रुचि रखने वाले लोगों को ऐसे शे'रों में कुछ आनंद की अनुभूति होती है, अंतर्वस्तु पर दृष्टि रखने वाले पाठक इनसे निराश होते हैं :

दिन स्या[10], रात स्या, माह स्या, साल स्या
दिल स्या, बख़्त[11] स्या, नामा-ए-ऐमाल[12] स्या
एक मैं और हैं ये चार बलाएँ काली
ख़त[13] स्या, ज़ुल्फ़ स्या, चश्म स्या, ख़ाल[14] स्या
कर दिया इस गुल के परतौ[15] ने जो दरिया को चमन
बुलबुलों[16] से साफ़ आती है सदा-ए-अंदलीब[17]

---

१. साँसों का तार २. बढ़ती हुई आयु रूपी घोड़ा ३. चाबुक ४. संकुचित मुख
५. एक प्रसिद्ध साहित्यिक पक्षी जो केवल कल्पित है, काव्य-रूढ़ि ६. अर्थ फल के समान है
७. अलंकार ८. लेखनी ९. शायरी १०. काला ११. भाग्य १२. कर्मों की सूची
१३. चेहरे की लकीरें १४. तिल १५. रूप और यौवन १६. यहाँ पानी के बुलबुलों से मुराद है
१७. बुलबुल

शाब्दिक चमत्कार उत्पन्न करने के प्रयास में जब वे किसी घटना या स्थिति का मार्मिक चित्र खींच देते हैं या कोई ऐसा रूपक खड़ा कर देते हैं जो तर्कसंगत होने के साथ सामाजिक वास्तविकता से भी स्वाभाविक जुड़ाव रखता हो तब यह उनके कला-कौशल का एक अच्छा उदाहरण बन जाता है :

किसी का कब कोई रोज़-ए-स्या[१] में साथ देता है
कि तारीकी[२] में साया भी जुदा रहता है इंसाँ से
पीर[३] जा पहुँचे अदम[४] को रह गये पीछे जवान
हैं कमानें राह चलने में ज़्यादा तेज़-तेज़
सब जख़्म मिरे जलते हैं शोले की तरह से
बिजली की तरह है तेरी तलवार में गर्मी
शामिल न हो जो नासिख़-ए-बरगश्ता[५] का गुबार
सहरा[६] में गर्द-बाद[७] से चक्कर न हो सके

नासिख़ के कला-कौशल के और अच्छे उदाहरण वहाँ दिखाई देते हैं जहाँ वे किसी घटना या स्थिति को नाटकीय मोड़ देने में सफल हो जाते हैं। उनकी अनुभव-सम्पनन्ता का सबसे उज्ज्वल पक्ष शायद यहीं उभर कर सामने आ पाता है। इसी कोटि में उनके वे शे'र आते हैं जहाँ वे एक साधारण-सी स्थिति को एक ऐसा मोड़ दे देते हैं जिससे न केवल विचार चमक उठता है बलिक श्रोता भी एक आत्मीय अनुभव की अनुभूति करता है। ऐसे शे'रों की अर्थवत्ता उनके नाटकीय ढंग में निहित होती है :

हम ख़्वाब में वाँ पहुँचे तदबीर[८] इसे कहते हैं
वो नींद से चौंक उट्ठे तक़दीर इसे कहते हैं
वो मुझसे गुरेज़ाँ[९] था, कल उसको मैं घर अपने
बातों में लगा लाया, तक़रीर इसे कहते हैं
महफ़िल से उठाने का जब क़स्द[१०] किया उसने
दानिस्ता[११] में ग़श लाया तज़्वीर[१२] इसे कहते हैं

---

१. विपत्ति के दिन २. अंधकार ३. वृद्ध, बुजुर्ग ४. परलोक ५. उद्दंड नासिख़
६. रेगिस्तान ७. धूल और हवा ८. युक्ति, उपाय ९. नाराज़ १०. प्रयास
११. जान-बूझकर १२. छल, धोखा

काविशें[१] अब तक जली जाती हैं गो मैं मर गया
जा-ए-गुल[२] काँटे मिरी तुरबत[३] पे ज़ालिम धर गया

नासिख़ की शायरी और अलंकारप्रियता से सम्बन्धित इन विचारों के मूल में उनके शे'रों से गृहीत प्रभाव रहा है। इसके अलावा वे शे'र भी ध्यान में रहे हैं जिन्हें नासिख़ की आत्म-स्वीकृति कहा जा सकता है। हर शायर की तरह नासिख़ भी कभी-कभी सृजन की पीड़ा और व्यग्रता का शे'र में ज़िक्र करते हैं या कला की समस्याओं पर बात करते हैं जिनसे कि एक कलाकार के रूप में उन्हें गुज़रना पड़ता है। ये शे'र नासिख़ के सृजनात्मक संघर्ष के सिलसिले में इसलिए भी विश्वसनीय लगते हैं कि इनका प्रभाव उनकी समूची शायरी पर स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। इनसे न केवल नासिख़ के कवि-मानस बल्कि उनकी शैली को समझने में भी मदद मिलती है :

जी लड़ा देता है कैसी ही ज़मीं[४] हो संगलाख़[५]
ख़ामा[६] तेशा[७] है तो 'नासिख़' कोहकन[८] से कम नहीं

इसमें कोई संदेह नहीं कि नासिख़ की शैली उनकी जी लड़ा देने वाली हिम्मत और जान-तोड़ मेहनत की पुष्टि करती है। उनका ख़ामा (लेखनी) बेशक एक तेशा (सब्बल) है जिससे वे कोहकनी (पहाड़ काटना) का काम लेते हैं। उनके पास 'कोहकन' का साहस मौजूद है लेकिन उनेक भीतर वह भाव नहीं है जिससे कि कोहकन का मिथकीय चरित्र ओतप्रोत था। इसलिए उनके द्वारा काटे गये पहाड़ सुंदर और ठोस मूर्तियों का आकार तो ले लेते हैं लेकिन उनमें जीवन का स्पंदन नहीं होता। वे हर चीज़ का निर्माण कर सकते हैं लेकिन आमतौर से वे अपनी बनाई हुई चीज़ों को एक धड़कता हुआ दिल नहीं दे सकते। नासिख़ के इसी तरह के दूसरे शे'र भी इस राय की पुष्टि करते हैं :

सनअत-ए-तर्सीअ[९] गर देखो मिरे अशआर की
फिर पसंद आये न सन्नाई[१०] मुरस्साकार[११] की
हर बेत[१२] में एक शाहिद-ए-मानी[१३] की है तस्वीर
नासिख है मुरक़्क़ा[१४], नहीं दीवान हमारा

---

१. कोशिशें २. फूल की जगह ३. क़ब्र ४. शे'र की ज़मीन ५. पथरीली, ऊबड़-खाबड़
६. लेखनी ७. पहाड़ काटने का उपकरण, सब्बल ८. पहाड़ काटने वाला ९.शिल्प-सौंदर्य
१०. कारीगरी ११. रत्न जड़ने वाला १२. शे'र १३. अर्थ का साक्षी १४. चित्रावलि,

हूँ सवार-ए-तौसन-ए-मानी[१] ज़मीन-ए-शे'र मैं
सैद[२] मज़्मूँ जो है नासिख़ बस्ता-ए-फ़ित्राक[३] है
अब क़ाफ़िया बदल के दिला फ़िक्र कीजिए
अशआर इस ग़ज़ल में हैं महमिल[४] भरे हुए
हमारे हुक्म से ये तुख़्मरेज़ी[५] है मज़ामीं[६] की
कि 'नासिख़' हर ज़मीन-ए-शे'र पर अपना इजारा है
कर लिया परियों को तस्ख़ीर[७] भुना कर अशआर
मिस्ल-ए-नासिख़ नहीं अब साहब-ए-अफ़्सूँ[८] पैदा

नासिख़ के इन शे'रों का रंग एक प्रकार से उनकी समूची शायरी पर हावी है। इन शे'रों में वे नाज़ुक ख़्याली, शिल्प-सौंदर्य, शब्दों की जादूगरी, क़ाफ़िया और बहर पर अधिकार, अर्थ के बीजारोपण की क्षमता और काव्य-विषयों की सामर्थ्य की ओर विशेष रूप से संकेत करते हैं जो कि नासिख़ की कुल जमा पूँजी है। उनका यह ख़्याल भी ग़लत नहीं है :

ऐ कल्क[९] फ़िक्र ऐसी ग़ज़ल इस ज़मीं से लिख
छाँटा न जाये शे'र कोई इंतिख़ाब[१०] में
मेरे अशआर ऐसे हैं चीदा[११]
कि नहीं दख़्ल याँ सुख़नचीं[१२] का
शे'र तर जो है मिरा इक गुल-ए-तर है 'नासिख़'
नहीं क़रतास[१३] ये दामन है किसी गुलचीं[१४] का

लेकिन शर्त यह है कि हम चयन और आलोचना के प्रतिमानों को भाषा और शिल्प-सौंदर्य की सीमाओं में ही परिमित कर दें। इसके साथ ही साथ जीवन और परिवेश में व्याप्त सुख-दुःख, आशा-निराशा और जय-पराजय को अनदेखा कर दें जोकि कला का मूल स्रोत है। नासिख़ की वैचारिक दुनिया की व्यापकता में संदेह नहीं लेकिन उनकी त्रासदी यह है कि वे अपने विचारों के जाल में उलझ कर रहे। विचार स्वयं में कोई बुरी चीज़ नही है बशर्ते कि वह हमें सामाजिक वास्तविकता की

---

१. अर्थ रूपी घोड़े पर सवार २. शिकार किया हुआ जानवर ३. घोड़े की ज़ीन में बंधी हुई डोर ४. बेकार, अर्थहीन ५. बीज बोना, बीजारोपण ६. विषय ७. वशीभूत ८. जादूगर ९. लेखनी १०. चयन ११. चुने हुए, छाँटे हुए १२. आलोचक, दोष निकालने वाला १३. काग़ज़ १४. माली

ओर ले जाये। लेकिन नासिख़ के यहाँ वास्तविकताएँ विचार की गुलाम बन जाती हैं जिससे जादुई तस्वीरें तो उभरने लगती हैं मगर जीवन की सच्चाइयाँ दफ़्न होकर रह जाती हैं, जो अंततः कला का प्राण हैं।

जिस शायर के पास जीवन की वास्तविकताओं की स्वस्थ समझ होती है, वह अपनी वैचारिकता के द्वारा इन वास्तविकताओं में एक नई व्यवस्था और सौंदर्यात्मक विशेषता पैदा कर देता है। वह उपमा एवं प्रतीक आदि के माध्यम से अलग-थलग लगने वाली विभिन्न स्थितियों के बीच सापेक्ष सम्बन्धों की खोज करता है। इस सिलसिले में यह जरूरी है कि रचनाकार वास्तविकता और प्रतीक के अंतर को अच्छी तरह महसूस करता हो। गड़बड़ी वहीं पैदा हो जाती है जब प्रतीक को वास्तविकता और वास्तविकता को प्रतीक समझ लिया जाये। नासिख़ के यहाँ प्रायः वास्तविकताएँ प्रतीक बनकर रह जाती हैं। इसलिए बहुत हद तक उनकी शायरी भी वास्तविकता की ठोस बुनियाद पर टिकने के बजाय प्रतीकात्मक बन कर रह जाती है। नासिख़ ने एक जगह कहा है :

ये मज़्मूँ ग़म-ओ-शादी-ओ-मर्ग-ओ-ज़ीस्त[1] है लाशई[2]
जहाँ[3] वो बेत[4] है जिसमें सरासर इस्तआरा[5] है

यह शे'र अगर कोई सूफ़ी कहता तो इसके पीछे किसी परोक्ष सत्ता की कल्पना हो सकती थी। लेकिन नासिख़ यह महसूस न कर सके कि ये सब चीज़ें तो हमें जीवन की वास्तविकताओं से परिचित कराती हैं और यदि दुनिया वास्तविकता के बजाय सिर्फ़ प्रतीक भी है तो उनकी कला प्रतीक का प्रतीक बन कर वास्तविकता से और दूर जा पड़ती है। नासिख़ के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी 'आतिश' भी शायरी को शिल्प-सज्जा समझते हैं :

शायरी भी काम है 'आतिश' मुरस्सा साज़[6] का

लेकिन उनकी मुरस्सासाज़ी (शिल्प-सज्जा) के पीछे जीवन की वास्तविकताओं का विवेक भी है। वे अपने शिल्प में संवेदना का ताप भी भरते हैं।

(३)

नासिख़ के जीवन-बोध, सांस्कृतिक दृष्टि और काव्य-शैली पर युगीन परिवेश और सामाजिक व्यवहार का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। यदि हम अठारहवीं

---

१. हर्ष-विषाद और जीवन-मृत्यु २. निःसार, व्यर्थ ३. संसार ४. शे'र ५. प्रतीक ६. रत्न जड़ने वाला, शिल्पकार

और उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान विशेष रूप से उत्तर भारत और अवध के जन-समुदाय में व्याप्त विश्वासों, रीति-रिवाजों और आचार-विचारों पर दृष्टिपात् करें तो सिर्फ़ नासिख़ में नहीं सामान्य मानवीय जीवन में काल्पनिक और रहस्यवादी तत्त्वों का हस्तक्षेप दिखाई देगा। जो बच्चा इस परिवेश में जन्म लेगा वह चाहे शायर हो या न हो, वह किसी न किसी हद तक अपनी प्रौढ़ावस्था में भी अतिप्राकृतिक और पारलौकिक शक्तियों में आस्था अवश्य रखता है। ऐसा बहुत कम है कि वह अपनी पुख़्ता सोच की वजह से मानसिक और भावनात्मक स्तर पर एक स्वतंत्र अस्तित्व और निजी अस्मिता बना सके। साथ ही अपनी सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

हर बच्चे की तरह एक शायर का मानसिक विकास भी सामाजिक परिस्थितियों की सापेक्षता में होता है। वह अपने सांस्कृतिक परिवेश और सामाजिक वास्तविकताओं से धीरे-धीरे परिचित होता जाता है। धीरे-धीरे उसमें दायित्व-बोध जाग्रत होता है। बच्चे अंततः समाज का निर्माण करते हैं। शुरू में वह बिना किसी आयास के प्रकृति से सीखता है। वह कुछ सचेत भी हो जाता है तो उसके सोचने और क्रिया करने का ढंग असामाजिक होता है। उसका बोध बुनियादी तौर पर आदिम होता है। संस्कृति की प्रभावशाली शक्तियों से उसकी कशमकश लम्बे समय तक चलती रहती है। वह अपनी अंतःप्रकृति के संकेतों पर चलना चाहता है और समाज उसे सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत बनाना चाहता है। आमतौर से सामाजिक एवं सांस्कृतिक शक्तियों की अंततः विजय होती है। फिर बच्चा, जो शायर भी हो सकता है, समझौता करके संस्कृति के सुनहरी धागे को अपनी गर्दन में डाल लेता है। लेकिन यह भी तयशुदा बात है कि कोई भी बच्चा बज़ाहिर सब कुछ ठीक-ठाक होने के बाद भी सौ फ़ीसदी सामाजिक नहीं बनता और न अपनी बाल-सुलभ क्रियाओं और कल्पनाओं से पूरी तरह छुटकारा पाता है। दूसरे लोग तो संतुलन के दायरे में अपेक्षाकृत आसानी के साथ और जल्दी आ जाते हैं। लेकिन मनोवैज्ञानिक कारणों से एक कलाकार के मस्तिष्क का संतुलित होना ज़रा कठिन होता है। इस प्रकार के प्रभाव अविकसित समाज और शायरों में ही नहीं, वैज्ञानिकों में भी छुपे रहते हैं और उनकी गतिविधियों को संचालित करते दिखाई देते हैं। मनोविज्ञान की मान्यता है कि यदि व्यक्ति हर प्रकार से संतुलित हो जाये तो न उसे शायरी की ज़रूरत पड़े और न किसी को उसकी शायरी का आनंद उठाने का शौक़ हो। शायर के विकास-काल और

रचनात्मक प्रयासों में पुरातन सोच, आस्थाओं और भावों के बचे-खुचे अंश बार-बार कभी अपने असली रूप में कभी वेश बदल कर उभरते रहते हैं। यदि कहीं समाज इन्हें स्वीकार करने के लिए तत्पर हो, जैसा कि नासिख़ के युग में था, तो ऐसे कलकार की कला को खूब फलने-फूलने का अवसर मिल जाता है।

आदिम युग के मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी चेतना पर अति प्राकृतिक, अमानवीय और परोक्ष शक्तियों का नियंत्रण रहता है जो अंततः निरर्थक विश्वासों को जन्म देता है। इसके परिणामस्वरूप ही जादू-टोना और बहुत से सामाजिक एवं धार्मिक विधि-विधानों का जन्म होता है। युगीन संस्कृति के प्रभावों के बावजूद समाज में ये आदिम प्रवृत्तियाँ प्रच्छन्न या प्रकट रूप में संक्रिय दिखाई देती हैं। संयोग से पिछली शताब्दियों में भारत में, जबकि उर्दू साहित्य का विकास जारी था, इन प्रवृत्तियों को फलने-फूलने का अनुकूल वातावरण मिल गया। इसका परिणाम यह हुआ कि दूसरी भारतीय भाषाओं के साहित्य की भाँति उर्दू में भी आदिम कल्पनाओं और अतिप्राकृतिक तत्त्वों का समावेश हो गया। शायरों से कहीं ज़्यादा इसका प्रभाव गद्यकारों में दिखाई देने लगा। इसका कारण यह है कि आमतौर से शायर अपनी निजता को अभिव्यक्ति देने में व्यस्त रहे हैं। गद्यकार समाज की बाह्य घटनाओं को दास्तानों में ढालते थे। इसी समाज और वातावरण में नासिख़ का पालन-पोषण हुआ था। इसलिए इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि नासिख़ की शायरी में विचार और सामाजिक निरीक्षण के आदिम रूप बहुतायत में मिलते हैं। उनके मस्तिष्क में अतिप्राकृतिक चीज़ों को ग्रहण करने की असाधारण क्षमता थी। उनका पालन-पोषण ऐसी संस्कृति में हुआ जो समृद्ध होने के बावजूद अतीत के भ्रम-जाल से बाहर नहीं निकली थी। इन भ्रमों को समाज की ओर से भी बढ़ावा मिलता था। इसलिए उम्र बढ़ने के बाद भी नासिख़ को इन भ्रमों से मुक्ति नहीं मिल सकी। उन्होंने विद्वत्ता की क़लई से अपनी शायरी को चमकाने के बहुत प्रयास किये लेकिन भ्रमों को मूर्त करने और काल्पनिक बुत तराशने से निजात न पा सके। यह बात उनके शायराना या व्यावहारिक जीवन में किसी प्रकार के कष्ट का कारण भी नहीं बनी। क्योंकि उनके आस-पास के परिवेश में इन चीज़ों को लेकर कोई रोक-टोक नहीं थी।

नासिख़ के सोच के तहख़ानों में अगर प्रवेश किया जाये तो यह अनुमान

करना मुश्किल नहीं होगा कि वहाँ एक आदिम युग का आदमी मौजूद है जो न केवल उनकी सम्वेदना को कच्चा माल मुहैया करता है बल्कि उनकी अंतःप्रकृति को उकसाता रहता है। नासिख़ के अलावा अगर हम तलाश करें तो थोड़े-बहुत अंतर के साथ यही बात हमें इंशा अल्लाह ख़ाँ इंशा में भी मिलती है। नासिख़ के भीतर छुपा हुआ यह आदमी या देव या वेताल भ्रांतियों और आदिम विश्वासों के सहारे सोचता है। उसके विचारों में एक अव्यवस्था और अतार्किकता है क्योंकि वह शिल्पकार नहीं है और उसके पास कहने का खूबसूरत ढंग नहीं है। जब इस भीतरी नासिख़ का एक बाहरी नासिख़ से सम्बन्ध स्थापित होता है, जो एक शिल्पकार है, शैलीकार है और एक सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न है। तब वह भ्रांतियों और आदिम विश्वासों पर अपनी कला का मेक-अप कर देता है। अपने सम्प्रेषण और अभिव्यक्ति के माध्यमों से भय और भ्रांतियों पर संस्कृति का आवरण चढ़ा देता है। नासिख़ यह कार्य इतने कौशल के साथ करते हैं कि पारम्परिक विश्वासों के पीछे मौजूद प्रेमिका के रंग-रूप को पहचान पाना बहुत मुश्किल हो जाता है।

मनुष्य की प्रकृति के भीतर अभिलाषाओं और आकांक्षाओं का एक भरा-पूरा संसार होता है। इस कोष में सदैव वृद्धि होती रहती है। बाह्य संसार की विघ्न-बाधाओं के कारण ये अभिलाषाएँ पूरी नहीं हो पातीं। ये स्थितियाँ कभी-कभी इतना गम्भीर रूप ले लेती है कि व्यक्तित्व का संतुलन बिगड़ जाता है :

हज़ारों ख़्वाहिशें ऐसी कि हर ख़्वाहिश पे दम निकले
बहुत निकले मिरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले

— ग़ालिब

यह कशमकश परिस्थितियों के अनुसार अपनी निकासी का मार्ग ढूँढ लेती है। ये मार्ग हैं–शायरी, ललित कलाएँ, कल्पना तथा दिवा-स्वप्न आदि। ये चीज़ें अतृप्त इच्छाओं को तृप्त करने के विभिन्न साधन हैं। नासिख़ की शायरी में भी, जो उनकी अतृप्त इच्छाओं को किसी हद तक तृप्त करने का साधन है, भाव-सम्प्रेषण की यह विशेषता पाई जाती है। वे अपनी एक दुनिया या महफ़िल का निर्माण कर लेते हैं जिसमें उनकी आदिम कल्पनाएँ और दमित वासनाएँ सक्रिय रहती हैं। वे मानसिक स्तर पर इससे संतुष्टि अनुभव करते हैं। इस तमाम स्थिति को यदि उघाड़ कर

प्रस्तुत कर दिया जाये तो एक हास्यास्पद बकवास के सिवा कुछ नज़र नहीं आयेगा। लेकिन नासिख़ एक कलाकार हैं इसलिए इन आदिम कल्पनाओं और दमित वासनाओं पर वास्तवकि दुनिया का सुंदर आवरण डाल देते हैं, यह आवरण भी पूरी तरह भीतर की दुनिया को नहीं छुपा पाता है। उनकी कल्पना पलक झपकते ही किसी भी मनोवांछित वस्तु को प्रस्तुत कर देती है और जब वे इन वस्तुओं से उकता जाते हैं तो धकेलकर मन से बाहर कर देते हैं। इस प्रकार वे न केवल अपनी दमित वासनाओं की तृप्ति कर लेते हैं बल्कि अपने कलाकार के अहं की भी तुष्टि कर लेते हैं :

मश्क़-ए-तस्वीर[१] है उसे मश्क़-ए-तसव्वुर[२] है मुझे
अपनी सनअत[३] मै दिखा सकता नहीं बहज़ाद[४] को
आँख की बंद बुत हुआ मौजूद
कोई मुझ-सा भी बुततराश[५] नहीं
गरचे गुरबत[६] है तसव्वुर[७] में अगर हमदम है पास
मेरी तनहाई भी मुझको अंजुमन से कम नहीं
ख़्वाब में सारे मज़े वस्ल[८] के हम लूटते हैं
बंद आँखें हैं मगर बंद कोई काम नहीं
वो तसव्वुर पेशा हूँ गर हो मिरी तुरबत[९] पे नख़्ल[१०]
हो वरक़ हर बर्ग[११] की जा ग़ार की तस्वीर का

उनके यहाँ भ्रांतियों के चित्रण पर दृष्टिपात् किया जाये तो अप्राकृतिक तत्त्वों के प्रति उनके रुझान की सामाजिक पृष्ठभूमि का बहुत आसानी से पता चल सकता है। वास्तव में यही वह क्षेत्र है जहाँ उनकी क्षमताएँ पूरी सम्भावनाओं के साथ सक्रिय दिखाई देती हैं। यही कारण है कि उनके यहाँ देव, जिन, परी, राजा इंद्र, ग़ोल परीज़ाद, हुनरमंदी, भूत-प्रेत, जादू-टोने और इनसे सम्बन्धित भ्रामक तत्त्वों का वर्णन 'इंशा' से भी कहीं ज़्यादा मिलता है। उन्होंने इस प्रकार के उपमा और प्रतीकों का भी प्रचुरता के साथ प्रयोग किया है :

१. चित्रकला का अभ्यास २. कल्पना का अभ्यास ३. शिल्प-सज्जा, अलंकार
४. ईरान का एक प्रसिद्ध चित्रकार ५. मूर्तिकार ६. दरिद्रता ७. कल्पना ८. मिलन
९. क़ब्र १०. उद्यान, बाग़ ११. वृक्ष

इक परी के इश्क़ ने मुझको सुलेमाँ[1] कर दिया
लख़्ताए-दिल[2] नग है तो हल्क़ा-ए-चश्म[3] का ख़ातिम[4] हुआ
हर वरक़ बाल-ए-परी से है मुशाबा[5] 'नासिख़'
कि परीज़ादों के है वस्फ़[6] में दीवान अपना
मुसख़्ख़र[7] कर लिया लाखों परीज़ादान-ए-मज़्मूँ को
ग़ज़ब अफ़्सूँगरी[8] आती है मेरी तबअ्-ए-मज़्मूँ को
चाल किस परीरू[10] की वक़्त-ए-फ़िक्र[11] याद आई
आज कुछ बहुत अपनी तबअ्[12] में रवानी है
ख़ाक में मिल जाय ऐसा ही अखाड़ा चाहिए
लड़के कुश्ती देव, हस्ती[13] को पछाड़ा चाहिए
जो परीरू बैठता है आके उठ सकता नहीं
अब तो नक़्श-ए-बोरिया का ख़ूब मैं आमिल[14] हुआ

शे'रों मे देव, जिन, परी आदि का वर्णन करने में चाहे स्वयं उनकी रुचि रही हो या लोगों ने उन्हें इस ओर प्रेरित किया हो। बहरहाल, उन्होंने इसका औचित्य सिद्ध करने के लिए कुरान का सहारा लिया जो कि मुस्लिम समाज के लिए तर्क से परे आप्त-वचन है। यह बात और है कि यह कुरान का सही इस्तेमाल है या ग़लत :

क्या गुनह ज़िक्र-ए-परी गर है मिरे दीवान में
सूरा-ए-जिन[15] क्या नहीं है ज़ाहिदो-कुरआन में
या एक परी से वस्ल था आठ पहर
या देते हैं रंज मुझको जिन शामोसहर

संसार की सभी संस्कृतियों और धर्मों में सर्प का प्रतीकात्मक महत्त्व सदैव से रहा है। बदलते हुए सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश में जहाँ तरह-तरह की दुरभिसंधियाँ चल रही हों तथा धन पर टिकी हुई समाज-व्यवस्था में जहाँ मनुष्य अप्राकृतिक और अमानुषिक शक्तियों की भाँति व्यवहार करने पर उतर आया हो,

---

१. एक प्रसिद्ध पैग़म्बर २. दिल का टुकड़ा ३. आँख का दायरा ४. अंत करने वाला ५. हमशक्ल ६. गुण ७. वश में करना ८. जादूगरी ९. विषय की समझ १०. परी के समान मुख वाली ११. चिंतन के समय १२. समझ, बुद्धि १३. जीवन १४. शास्त्रोक्त बात पर गंभीरता से आचरण करने वाला १५. कुरान शरीफ में आई हुई जिन की सूरत (आयत का एक अंश)।

ऐसे में ये तमाम जीव-जंतु सामाजिक प्रतीक बन जाते हैं। इन प्रतीकों के प्रयोग से रचनाकार एक हद तक अपने मन के आक्रोश और भय से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। उसे बिना किसी अपराध के मिलने वाली निर्मम यातना से बच निकलने का अवसर भी मिल जाता है जिससे बचने के लिए कोई क़ानून भी मददगार नहीं हो सकता था। क्योंकि ऐसे दौर में सज़ा के नियम भी प्रायः व्यक्तिगत ही हुआ करते थे। किसी स्वेच्छाचारी व्यक्ति की इच्छा ही क़ानून हुआ करती थी। इस प्रकार के शे'रों में निहित शायर के सोच की भीतरी पर्तों को उजागर करने के लिए उन प्रतीकों को जानना बहुत ज़रूरी है, कलाकार ने जिनका प्रयोग सामाजिक वास्तविकताओं को संकेतित करने के लिए किया है। इस प्रवृत्ति के कुछ शे'र द्रष्टव्य हैं :

या काकुल-ए-दिलदार[१] से था रब्त मुदाम[२]
या लोटते हैं साँप मिरी छाती पर
इस रश्क-ए-परी के हिज्र[३] में ऐ यारो
पहुँचाते हैं आसेब[४] शयातीन[५] मुझको
करते हैं परियों से कुश्ती पहलवान-ए-इश्क़ हैं
हम को 'नासिख़' राजा इंदर का अखाड़ा चाहिए

ज़ाहिर है कि पहलवान-ए-इश्क़ की कल्पना ही अजीबो-ग़रीब है। शायद इसका सबब यह हो कि ग़ज़ल गोई के कारण प्रेम से उनका काल्पनिक सम्बन्ध रहा हो और पहलवानी का शौक़ तो बचपन से ही था। अब ऐसे पहलवान-ए-इश्क़ के मुक़ाबले में राजा इंद्र के अखाड़े की परियों के अलावा कोई इंसानी माशूक़, चाहे वह कितना भी बलवान क्यों न हो, ख़म ठोंक कर कैसे खड़ा हो सकता था।

इन अतिप्राकृतिक दृश्यों के अतिरिक्त नासिख़ की शायरी में प्रेत (ग़ूल) का उल्लेख भी बार-बार मिलता है। उर्दू के बहुत-से प्राचीन शायरों के दीवान में भी इस योनि का ज़िक्र अक्सर दिखाई देता है। बहुत सम्भव है कि उनके किसी पुराने अंतर्विरोध ने ग्रंथि का रूप ले लिया हो। हो सकता है कि इसके पीछे कोई बचपन की घटना हो और यह भी सम्भव है कि इसी अंतर्विरोध ने कोई ऐसा असाधारण रूप धारण कर लिया हो जिसने उन्हें आजीवन अविवाहित रहने को विवश कर दिया हो।

---

१. प्रेमिका के केश २. हमेशा ३. वियोग ४. प्रेतात्मा ५. शैतान का बहुवचन

दश्त-ए-गुर्बत[1] में जो मैं गुमरह हुआ
क़ब्र पर रोशन चिराग़-ए-गूल[2] है
गूल की आँखें चिराग़ और आशियाँ कंदील है
इक शब-ए-तारीक अपने कुंज-ए-वीराँ[3] में नहीं
जो चश्म अहल-ए-वतन में ठहरे क्या परवा
हमारी खाक़ से रोशन हैं आँखें गूलों की
हूँ वो वहशी कि अगर दश्त में फिरता शब को
आके मशालची वहीं गूल-ए-बयाबाँ[4] होता

ऊपर की पंक्तियों में जो बहस चल रही है वह न केवल नासिख़ की चेतना को समझने में सहायक हो सकती है बल्कि उनके अवचेतन के अनेक रहस्य खोलने में भी इससे सहायता ली जा सकती है। नासिख़ के अवचेतन को समझना साधारण अवचेतन की तुलना में सरल है। क्यों कि उनके अवचेतन का व्यक्त रूप बहुत ही मुखर और कलात्मक है। वह अपेक्षाकृत प्रकट है और इस हद तक प्रच्छन्न नहीं है कि उसे पहचाना ही न जा सके। यहाँ उनके मस्तिष्क की क्षमताओं और उनके व्यक्तित्व में निहित अवचेतन की पूंजी की जो चर्चा की गई है, वह अधूरी है। इस दिशा में अभी आसानी के साथ कई रहस्यों को उद्घाटित किया जा सकता है। लेकिन यहाँ केवल एक ही प्रवृत्ति का उल्लेख करके बहस को समाप्त कर देना है। मनोविज्ञान में इस प्रवृत्ति को आत्म-सम्मोहन के नाम से जाना जाता है। आत्म-सम्मोहन क्या है और इसकी व्यावहारिक क्रिया का दायरा कितना व्यापक है और शायरी व ललित कलाओं से इसका क्या सम्बन्ध है ? यह सब जानने के लिए तद्विषयक प्रामाणिक पुस्तकों का अवलोकन करना चाहिए। यहाँ संक्षेप में सिर्फ़ यह बताना है कि हर बच्चे में आदिम रूप से आत्म-मुग्धता और स्व-प्रेम भाव विद्यमान रहता है जो आरम्भ में उसे स्वार्थी बनाये रखता है। लेकिन बाद में ऊपर उठकर यह भाव समाज एवं मानव-प्रेम की प्रेरणा बन जाता है बल्कि मनुष्य के भीतर त्याग और बलिदान की भावना को उपजाता है। जब धीरे-धीरे बाह्य सामाजिक संसर्ग के कारण बच्चा अपने खोल से बाहर निकलता है तो बाहर की दुनिया में सबसे पहले उसका प्रेम माता-पिता के प्रति जागता है। लेकिन सामाजिक शिक्षा और उदात्तीकरण के माने यह नहीं हैं कि उसके मन से आत्म-मुग्धता और स्व-प्रेम का

१. दरिद्रता का जंगल २. प्रेम का दीपक ३. उजड़ा हुआ उपवन ४. बियावान का प्रेत

भाव समाप्त हो गया है। कितने भी परिवर्तनों के बाद यह भाव पूर्णतः समाप्त नहीं होता। सच तो यह है कि किसी हद तक इस भाव का बना रहना व्यक्ति और समाज की रक्षा के लिए आवश्यक है। लेकिन यह प्रवृत्ति यदि संतुलन से अधिक है तो ऐसे व्यक्ति का सामाजिक व्यवहार किसी न किसी हद तक असामान्य ज़रूर हो जाता है। व्यक्तित्व की इन असंगतियों को अन्य साधनों के अतिरिक्त कविता और कलाओं के माध्यम से कम किया जा सकता है बल्कि एक कलात्मक रूप देकर हृदय-ग्राह्य बनाया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन के अनुसार आत्म-सम्मोहन की प्रवृत्ति शायरों और साहित्यकारों में कुछ ज़्यादा ही पाई जाती है। यह उनकी रचनाओं में भी व्यक्त होती रहती है। प्रायः शायर आत्म-निरीक्षण तथा स्वयं का महत्व प्रदर्शित करने वाले विषयों का वर्णन करते हैं। डींग हाँक कर अपने अहं की तुष्टि कर लेते हैं और इसी से अपनी शायरी को सजाने-सँवारने का यत्न करते हैं। आत्म-मुग्ध स्वभाव वाला व्यक्ति आमतौर पर अपनी सज-धज पर ज़्यादा बल देता है। ऐसा कलाकार भी कला को अपना अस्तित्व मानकर शिल्प-सौन्दर्य के प्रति ज़्यादा सचेत हो जाता है।

इस पृष्ठभूमि को सामने रखकर एक ऐसे शायर की कल्पना कीजिए जिसने उस्ताद से उदासीन होकर अपनी शायरी का संशोधन स्वयं करने में एक लम्बी आयु बिता दी हो। वह शिल्प-सज्जा के प्रति उसी प्रकार सचेत रहेगा जैसे कि आत्म-मुग्ध स्वभाव वाला व्यक्ति अपनी सज-धज का विशेष ध्यान रखता है। नासिख़ के निजता-बोध को सामाजिक परिस्थितियों ने बल दिया। नासिख़ के साथ संतान का जंजाल नहीं था जिसमें उनका निजत्व एक हद तक बँट सकता था। जिस वातावरण और सांस्कृतिक परिवेश में वे जीवन व्यतीत कर रहे थे, कुल मिलाकर वह भी आत्म-सम्मोहन से ग्रस्त था। उनके पास शागिर्दों और क़द्रदानों की एक बड़ी फ़ौज थी जो उनकी आत्म-सम्मोहन की प्रवृत्ति को उकसा रही थी। ऐसे ही अनेक कारण और थे जो इस प्रवृत्ति को आवश्यकता से अधिक बढ़ावा दे रहे थे। उनके मन में बाह्य जगत के प्रति कोई राग शेष नहीं रह गया था। अच्छे स्तर की ग़ज़ल कहने के लिए किसी वास्तविक और लौकिक प्रेमी का होना ज़रूरी नहीं है। प्रतीकात्मक प्रेमी से भी ग़ज़ल गोई का काम चल जाता है। नासिख़ भौतिक प्रेम के मार्ग पर चलने वाले नहीं थे इसलिए जब कभी उनकी शायरी में भौतिक प्रेम से सम्बन्धित भावनाएँ या अनुभव व्यक्त होते हैं तो उनमें अत्यधिक कृत्रिमता और अतिरंजना

दिखाई देती है। तब उनकी स्थिति बड़ी दयनीय होती है। जीवन भर उनका दामन किसी काँटे से नहीं उलझा इसलिए जब वे फूलों की तरफ़ हाथ बढ़ाते हैं तो वह आंतरिक उछाह नहीं दिखाई देता। उनका मन हमेशा अपने में भी इतना अटका रहा कि किसी दूसरे को प्रेमी बनाने का अवकाश ही उन्हें न मिल पाया और शायद उन्होंने प्रयास भी नहीं किया :

किसी से दिल न इस वहशत सरापा में मैंने अटकाया
न उलझा ख़ार से दामन कभी मेरे बयाबाँ का

नासिख़ की सबसे बड़ी वंचना यही थी कि उनका कोई प्रेमी न था और न 'आतिश' की तरह उन्हें तसव्वुफ़ (अध्यात्म) से लगाव था कि मन की पीड़ा का उपचार खोजने अध्यात्मलोक में प्रवेश कर जाते। परिस्थितियों का ऐसा दबाव रहा कि उनका 'स्व' ही उनकी खोज का लक्ष्य बन गया। वे राहगीर थे मगर सामने कोई मंज़िल न थी। उनके मन में इच्छा थी लेकिन इच्छित वस्तु की कोई स्पष्ट कल्पना उनके मन में नहीं थी। इसलिए दुनिया भर के ज्ञान के बावजूद वे अपने ही रहस्य को न समझ सके। कुछ शे'र देखिए :

तर्फ़ा[१] आशिक़ हूँ मिरा माशूक़ क्या जाने है कौन
और तो क्या ख़ुद नहीं वाक़िफ़ मैं अपने राज़ से
सौदा-ए-इश्क़ ग़ैर कहाँ है बरंग-ए-गुल
अपने ही हुस्न पर मैं गरीबाँ दरीदा[२] हूँ
आशिक़ हुआ हूँ दोस्तो मैं अपनी शक्ल का
मेरा है अक्स आईना-ए-रूए-यार में
ग़फ़्लत से अपना तालिब-ए-दीदार[३] हूँ मैं आप
मेरा ही चेहरा है जो निहाँ[४] है नक़ाब में
उठ गई जब से दवी[५] 'नासिख़' तो कहता है यही
आप ही शाहिद[६] है आप ही रिंद शाहिद बाज़[७] है

---

१. पल भर का २. फटा हुआ गरीबान ३. दर्शन का इच्छुक ४. छुपा हुआ ५. कान में होने वाली झंझनाहट ६. साक्षी ७. सुरा-सुंदरी का प्रेमी

(४)

नासिख़ के अनुभवों की दुनिया बहुत व्यापक है लेकिन उनके ज़्यादातर अनुभवों में मानवीय सरोकार नहीं है। उनके शे'रों का बाह्य रूप आकर्षक है और अंतर्वस्तु ठीक इसके विपरीत है। वे अपने जीवन से विपरीत जाने वाले अनुभवों को जब शिल्प के बल पर हृदयग्राह्य बनाने की कोशिश करते हैं तो इसमें सायासता आ जाती है और उनकी ग़ज़ल कला का एक उत्कृष्ट नमूना नहीं बन पाती। ग़ज़ल तो एक मंज़िल के बाद आबगीना साज़ी[1] का काम बन जाती है। शिकंजा और दाव को सहन नहीं कर सकती। नासिख़ की रचना-प्रक्रिया का सबसे बड़ा दोष यही है जिसके रहते हुए वे उस्तादी और आशिक़ी में संतुलन कायम नहीं रख सकते। इसीलिए जब वे ख़ालिस ग़ज़ल के विषयों से अलग हटकर दूसरे विषयों की ओर प्रवृत्त होते हैं तो रचना के साथ न्याय नहीं करते हैं। शायद यही कारण है कि उनके यहाँ ऐसे विषय बड़ी तादाद में मिलते हैं जिन्हें रिवायती तौर पर ग़ज़ल में कम ही जगह दी गई है। उन्हें लगता है कि यही वह मैदान है जहाँ एक अच्छे शायर और लायक़ उस्ताद के रूप में उन्हें सफलता मिल सकती है। इस स्थिति पर नासिख़ के आलोचकों ने परस्पर भिन्न रायें व्यक्त की है। कुछ आलोचकों का यह कहना है कि उन्होंने ग़ज़ल में कसरत के साथ ऐसे विषयों को स्थान दिया है जिनका ग़ज़ल की प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं। कुछ लोगों का कहना है कि काव्य-विधा के रूप में ग़ज़ल एक स्थान पर जड़ होकर नहीं रह सकती। सामाजिक परिवर्तन एवं जन-समुदाय की अभिरुचि के अनुसार लाख बंदिशों के बाद भी ग़ज़ल के विषय-फलक में विस्तार होना आवश्यक था और इस दृष्टि से नासिख़ की प्रशंसा की जानी चाहिए। उन्होंने अपने युग के तमाम शायरों से कहीं ज़्यादा ग़ज़ल को विस्तार दिया। उनके समकालीन शायरों तथा बाद की पीढ़ियों पर नासिख़ का प्रभाव देखा जा सकता है। यह सिलसिला आज भी जारी है। नासिख़ के इन विस्तार देने के प्रयासों में ख़लिस ग़ज़ल तो पीछे छूट गई लेकिन गूढ़ विषयों को फलने-फूलने का अच्छा अवसर मिल गया। जब उनके शे'रो में शिष्टचार, सदुपदेश, समय-चक्र, शिक्षा, अहं, स्वाभिमान, शालीनता व सद्व्यवहार, त्याग एवं बलिदान जैसे विषय व्यक्त होते हैं तो सकारात्मक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। ऐसे विषयों को व्यंजित करने में वे अपने समकालीन शायरों से

१. बारीक काँच पर कलाकारी करना

कहीं आगे रहते है। उनकी तरंगायित कल्पना-शक्ति और कलात्मकता का यहीं पता चलता है। यहीं एक समर्थ उस्ताद का कौशल भी उभर कर सामने आता है। इस तरह के शे'र भी नासिख के यहां बड़ी तादाद में मिलते हैं:

'नासिख़' न हो ज्यूँ मगस[१] ख़्वान-ए-अग़्निया[२]
सुनता हूँ ये सुख़न[३] लबे-नान-ए-जवीन[४] से
ग़म नहीं है फ़लक जो ताज नहीं है
हमें सिर की भी एहतियाज नहीं है
ख़्वार जो जाहिर में हैं उनको हिक़ारत से न देख
कीमियागर[५] फिरते हैं अक्सर गदा[६] के भेस में
बात जिन नाजुक मिज़ाजों से न उठती थी कभी
बोझ उनसे सैंकड़ों मन ख़ाक का क्यूँकर उठा
इस क़दर मुझको बख़ीलों से पड़ा दुनिया में काम
इतनी शुहरत पर यक़ीन-ए-हिम्मत-ए-हातिम नहीं

दुनिया को नसीहत देने वाली घटनाओं पर सभी बड़े शायरों ने अपने-अपने ढंग से विचार व्यक्त किये हैं। 'मीर' के यहाँ नसीहत की यह शाश्वत कहानी एक ऐसे बादशाह के रूपक के माध्यम से कही गई है जो अंहकारी था लेकिन अब परिस्थितियों के हाथों पराजित हो चुका है। 'ग़ालिब' के यहाँ इस स्थिति को प्रिय के विछोह में ख़ामोशी के साथ रात भर जलती हुई शमअ् के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया गया है। 'फ़िरदोसी' के यहाँ यही भाव निर्जन स्थान पर नक्कारा बजाने वाली बात के रूप में मिलता है। नासिख़ ने भी इस भाव को अनेक शे'रों में बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। इनमें से कुछ शे'रों को उच्चकोटि के साहित्य के अंतर्गत रखा जा सकता है :

तमाशा-ए-जहाँ हम देखते हैं कुंज-ए-उज़्लत[७] में
हमारे बोरिए का नक़्श ख़त है साग़र-ए-जम[८] का
गुज़रना गाह जो मेरा हुआ शहर-ए-ख़मोशाँ[९] में

---

१. मक्खी २. धनी लोगों की थाली ३. बात ४. रोटी की ज़बान से, नासिख़ कहते हैं कि स्वयं को धनी लोगो की थाली में पड़ी हुई मक्खी की भाँति उपेक्षित न बना
५. सोना बनाने वाले ६. भिखारी ७. निर्जन स्थान ८. जमशेद, ईरान का एक प्रसिद्ध शासक जिसके पास एक प्याला था जिससे वह संसार भर का ज्ञान प्राप्त कर लेता था।

गुज़रना गाह जो मेरा हुआ शहर-ए-ख़मोशाँ[१] में
अजब नक़्शा नज़र आया वहाँ शाहान-ए-आलम[२] का
कहीं आईना-ए-ज़ानू[३] सिकंदर का शिकस्ता था
किसी जानिब पड़ा था कासा-ए-सर[४] ख़ाक में जम का
वस्ल की शब हो चुकी सुबह-ए-क़यामत है अयाँ[५]
सूर[६] की आवाज़ है मुर्ग़-ए-सहर नालाँ नहीं
कल तलक आरास्ता देखी थी जिस जा बज़्म-ए-रक़्स
आज वाँ कोई बगूलों के सिवा रक़्साँ नहीं
कल जहाँ चाऊस[७] करते थे सदा-ए-दूरबाश[८]
ग़ैर शेर-ओ-गुर्ग[९] आज उस जा कोई दरबाँ नहीं

प्रेम में हठ और वश न चलने के भाव को शायर और दार्शनिक हज़ारों साल से व्यक्त करते रहे हैं। यहाँ दूसरे शायरों से तुलना की कोई ज़रूरत नहीं है। नासिख़ ने इस विषय पर कुछ चित्ताकर्षक शे'र कहे हैं। इनमें नवीनता और ताज़गी है। इन्हें न केवल नासिख़ की श्रेष्ठ रचनाओं में शामिल किया जा सकता है बल्कि यदि उर्दू शायरों के बेहतरीन शे'रों का कोई संग्रह तैयार किया जाये तो इसमें भी इन्हें जगह दी जा सकती है :

गरचे जब्री[१०] नहीं हूँ मैं लेकिन
कुछ मुहब्बत पे अख़्तियार नहीं
न कर सका मैं कोई काम हस्ब-ए-ख़्वाहिश-ए-दिल[११]
सिवाय जब्र नहीं खाक अख़्तियार मुझे

लेकिन जो शे'र उनकी विशिष्ट पहचान क़ायम करता है और जिसमें विषय की नवीनता है, वह यह है :

चला अदम[१२] से मैं जब्रन तो बोल उठी तक़दीर
बलाएँ पड़ने को कुछ अख़्तियार लेता जा

सामाजिक अन्याय हमेशा से मनुष्य की इच्छाओं को दबाता चला आ रहा है।

---

१. क़ब्रिस्तान २. संसार के बादशाह ३. जंघा रूपी दर्पण ४. शिर रूपी पात्र
५. प्रकट ६. बिगुल ७.सेना के आगे चलने वाला चारक ८. अलग रहो, दूर हटो की आवाज़ ९. भेड़िया १०.हठधर्मी, अत्याचारी ११. मन की इच्छानुसार

स्वाभाविक रूप से इच्छाओं का दमन (खूने-आरज़ू) शायरों का प्रिय विषय रहा है। लेकिन सच्चाई यह है कि इस मैदान को वही शायर जीत सकते है जिन्हें सचमुच में अपने जीवन में नाकामियाँ मिली हों और जो नाकामियों से काम लेना भी जानते हों। नासिख़ का अभावों और नाकामियों से शायद ही कभी वास्ता पड़ा हो। वे कुछ परेशान ज़रूर रहे। निर्वासन-काल के दौरान उन्होंने अपनों से दूर रहने का अनुभव भी प्राप्त किया। अवध के राजनीतिक जीवन में उन्हें कारावास नहीं हुआ और प्राण बच गये। लेकिन इस दौरान उन्हें भयानक अनुभवों से गुज़रना पड़ा। इन कारणों से उनके दीवान में कुछ अच्छे शे'र मिल जाते हैं। ऐसे शे'र ज़्यादतर उनके दूसरे दीवान में मिलते हैं जिसका नाम 'दफ़्तर-ए-परीशान' है :

क्या हाथ उठाऊँ बहर-ए-दुआ[1] सू-ए-आसमान[2]
बर[3] आये जो कभी वो मिरी आरज़ू नहीं
आती है आलम-ए-बाला[4] से सदा[5] माँग सो दूँ
इम्तहान को भी मैं कभी सायल[6] न हुआ
साग़र-ए-उम्मीद ख़ाली रह गया तो रह गया
साक़िया हम अपना जाम-ए-ज़िंदगानी भर चले
न हो कुछ आरज़ू मुझको ख़ुदाया
यही हरदम दुआ है और मैं हूँ

कभी-कभी इस अनुभूति की तीव्रता इतनी बढ़ जाती है कि एक समूची ग़ज़ल का रूप ले लेती है :

ग़ैर हसरत ले गया याँ से कोई क्या अपने साथ
आसमाँ से किस तवक़्क़ो पर मैं दौलत मांगता
हाथ उठाकर दोनों आलम से ख़ुदा के सामने
क्या मैं इस वहशत सारापा[7] में ग़ैर वहशत मांगता
गर तलब फ़ौजो-निशाँ[8] करता तो मिलते अश्को-आह
हाथ आती सीनाकोबी[9] गर मैं नोबत[10] मांगता

१. दुआ के लिए २. अकाश की ओर ३. पूरी होना, सफल होना ४. ऊपर की दुनिया, परलोक
५. आवाज़, पुकार ६. प्रशनकर्त्ता, याचक ७. आद्योपांत भय का वातावरण ८. सेना और ध्वज
९. छाती पीटना १०. राजाओं और अमीरों के द्वार पर बजने वाली शहनाई

ख़िज्र[1] भी मिलता तो मैं जाम-ए-शहादत मांगता
ये तड़पने में मज़ा मुझको मिला है बाद-ए-ज़िब्ह[2]
मौत से मिलती तो और एक दम की मुहलत मांगता
आगे कुश्त-ए-आरज़ू[3] के आबरू मेरी रही
बर्क़ ही गिरती जो मैं बारान-ए-रहमत[4] मांगता

हर संवेदनशील व्यक्ति, विशेषतः कवि किसी न किसी रूप में भीतर से निराश और बेचैन रहता है। यदि यह बेचैनी संतुलन की सीमा को पार कर जाये तो इसे हम रुग्ण व्यक्तित्व कहते हैं। लेकिन प्रतिकूल परिस्थितियों और आंतरिक बेचैनी में ठीक-ठीक संगति पैदा हो जाये तो ऐसी कलात्मक व्यग्रता एक अच्छे शायर के लिए बड़ी सार्थक साबित होती है। कलात्मक व्यग्रता ने विश्वसाहित्य में अनेक श्रेष्ठ रचनाओं को जन्म दिया है। उर्दू भाषा के भी बेहतरीन शे'र प्रायः उन्हीं शायरों के कहे हुए हैं जिन्होंने इस व्यग्रता का स्वस्थ और रचनात्मक उपयोग किया है। आम तरीके से सोचा जाये तो ऐसा ही लगेगा कि नासिख़ किसी गहरी बेचैनी के शिकार थे। लेकिन यदि गहराई से विचार किया जाये तो मालूम होगा कि ऊपर से भारी-भरकम लगने वाला उनका व्यक्तित्व कभी-कभी आंतरिक पीड़ा और बेचैनी का शिकार हो जाता था। यह बात आमतौर से हर कलाकार में पाई जाती है। जब तक उनके आस-पास की परिस्थितियाँ अनुकूल रहीं, इस बेचैनी को व्यक्त होने का अवसर नहीं मिला। लेकिन उनके जीवन में एक ऐसा दौर भी रहा जिसमें न केवल उन्होंने इस पीड़ा और बेचैनी को अनुभव किया बल्कि उसे कला में भी रूपांतरित किया है। उनके दूसरे दीवान की अधिकांश ग़ज़लें इसी दौर की कमाई हैं। इसलिए इसमें बहुत-सी ऐसी चीज़ें मिल जाती हैं, जिनकी हमें ग़ज़ल में तलाश रहती है। पहले दीवान वाले नासिख़ की तुलना में दूसरे दीवान वाले नासिख़ ग़ज़ल की अपेक्षाओं के अधिक समीप दिखाई देता है। इस दीवान में अहं केन्द्रित विषयों को छोड़कर जहाँ उन्हें उत्तम पुरुष के प्रयोग करने का अवसर मिला है वहाँ नासिख़ का आहत मन भी उभर कर सामने आ जाता है। ज़ाहिर है कि यह नया नासिख़ पुराने नासिख़ से काफ़ी अलग है। जिसे हम व्यक्तिगत और कलात्मक ठाठ-बाट के साथ

---

१. एक अमर पैग़म्बर जो भूले-भटकों को राह दिखाते हैं २. कटने के बाद ३. इच्छा का मरना
४. कृपा के बादल।

देखते और पहचानते आये है :

नख़्ल-ए-बुरीदा[1] हूँ मुझे क्या बर्ग-ओ-बार[2] से
शाख़-ए-शिकस्ता[3] हूँ नहीं मतलब बहार से
हम ख़ाना ख़राबों[4] से मिले क्या कोई आकर
दरवाज़ा-ए-उफ़्ताद[5] है दरबान हमारा
डर था असर का उसके सो वो भी निकल गया
नादिम[6] हुआ हूँ मुँह से मैं नाला[7] निकाल कर
पूछ ऐ 'नासिख़' न कुछ मेरी उदासी का सबब
आप में दिनरात हैराँ हूँ हुआ है क्या मुझे
तमाम उम्र यूँ ही हो गयी बसर अपनी
शब-ए-फ़िराक़[8] गई रोज़-ए-इंतज़ार आया

इस तरह के शालीन शे'रों के अलावा उनके कुल्लियात में असंगत और श्रेष्ठ साहित्यिक रुचि के विपरीत लगने वाले शे'रों की भी कमी नहीं है। वास्तव में इन शे'रों को शे'र कहना भी उचित न होगा। ये शे'र केवल नासिख़ के दोषों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। लेकिन इस प्रकार के शे'रों के आधार पर नासिख़ के मूल्य एवं महत्त्व के सम्बन्ध में अंतिम निर्णय नहीं दिया जा सकता। मीर, सौदा, आतिश बल्कि ग़ालिब के यहाँ भी स्तर और गरिमा से गिरे हुए शे'र कुछ कम नहीं मिलते और इन शे'रों से ऐसे बड़े शायरों का महत्त्व कम नहीं हो जाता है। नासिख़ के इस तरह के कुछ शे'र मात्र इस अध्ययन को पूर्ण बनाने के उद्देश्य से दिये जा रहे हैं। इन शे'रों के रूप एवं अंतर्वस्तु पर ग़ौर करते समय उस सामंतीय वातावरण को भी ध्यान में रखना ज़रूरी है जो कि इनकी रचना के लिए ज़िम्मेदार है :

सोच है जब से कबूतर ले गया है ख़त-ए-शौक़[9]
कू-ए-जानाँ[10] में रक़ीब अपना कबूतर बाज़ है
तूने शहबाज़-ए-निगह को जो इधर छोड़ दिया

---

१. कटा हुआ वृक्ष २. फल और पत्ते ३. टूटी हुई डाल ४. जिनका घर उजड़ चुका है ५. दुःख ६. लज्जित ७. आर्त्त पूकार ८. वियोग की रात
९. प्रेम-पत्र १०. प्रेमिका की गली

हमने भी तायर-ए-दिल[1] बाँध के पर छोड़ दिया
लिख-लिख के हाल उसके महल पर गिराये
कासिद[2] नहीं मिला कोई बेहतर पतंग से
दे दुपट्टा तू अपना मलमल का
नातवाँ[3] हूँ कफ़न भी हो हलका

उनके दीवान में कुछेक कटाक्षपूर्ण शे'र भी मिलते हैं, जैसे कि दो-चार शे'र तसव्वुफ़ (अध्यात्म) पर भी मिल जाते हैं। मौलाना आज़ाद का यह विचार दुरुस्त है कि वे तसव्वुफ़ के आदमी न थे। 'तसव्वुफ़ का कूचा कुछ और ही है जिससे वे वाक़िफ़ न थे।' यही बात कमोबेश उनकी कटाक्ष-क्षमता के विषय में कही जा सकती है। वे उतने सहृदय नहीं थे इसलिए 'आतिश' की भाँति तसव्वुफ़ को शायराना अभिव्यक्ति न दे सके। वे स्वभाव और व्यक्तित्व से निहायत गम्भीर और तेजस्वी थे, हँसना-बोलना तो दरकिनार मुस्कुराना भी उनके लिए मुश्किल काम था। स्वभाव से वे हँस-मुख और ज़िंदादिल न थे। कभी-कभी संकोच के साथ ऐसी कोशिश करते और अक्सर नाकाम रहते थे। उनके व्यंग्य के पीछे कोई बड़ी बात नहीं होती। 'आज़ाद' का कहना है कि उनकी हँसी भी बुझी हुई मालूम पड़ती है। उन्होंने अपने बारे में एक शे'र कहा है:

तुंद ख़ू ज़ाहिर[4] में हूँ बातिन[5] में हूँ बाग़-ओ-बहार
जिस तरह काँटे लगे हों बाग़ की दीवार पर

लेकिन न तो उनके जीवन और न शायरी से इस बात की पुष्टि होती है।

जीवंतता का अभाव नासिख़ का एक बड़ा दोष है जिसे देखकर अफ़सोस होता है। यदि वे ज़िंदादिल होते तो 'सौदा' के बराबर होते। हालाँकि उन्होंने जीवंतता पर एक ऐसा शे'र कहा है जो बेहद खुशगवार है और एक कहावत बन चुका है और जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण को सामने लाता है :

ज़िंदगी ज़िंदादिली का नाम है
मुर्दादिल ख़ाक जिया करते हैं

लेकिन उनके व्यावहारिक जीवन और शायरी में इस दृष्टिकोण की छाया तक नहीं दिखाई देती है। उन्हें मुर्दादिल भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि गम्भीरता कभी मृत्यु का पर्याय नहीं बन सकती।

उनके यहाँ व्यंगयात्मक शे'र भी मौजूद हैं। लेकिन व्यंग्य का बीज कटाक्ष

---

१. दिल रूपी परिंदा २. पत्र-वाहक ३. कमज़ोर ४. देखने में तीखा और शुष्क ५. भीतर, अंतर

(Irony) की भूमि में बोया जाता है। व्यंग्य के बाणों को हमेशा कटाक्ष की शाण पर पैना किया जाता है। इसलिए अच्छे कटाक्ष के अभाव में तीखा व्यंग्य अस्तित्व में नहीं आ सकता। नासिख़ के व्यंग्यों में धारदार और मीठी चुभन नहीं है। उनका कटाक्ष मात्र फ़बती जैसा लगता है और उनके व्यंग्य भोथरे हथियार की चोट मालूम पड़ते हैं। कुल मिलाकर उनके यहाँ ऐसे कटाक्ष और व्यंग्य प्रधान शे'रों की संख्या कम ही होगी जो हमारी स्मृति में देर तक ठहरने की क्षमता रखते हों :

इस क़दर खुश्क हुआ ज़ाहिद-ए-बेदीन[१] गोया
सर-ए-मिस्वाक[२] हुआ गुम्बद-ए-दस्तार[३] बुलंद
नज़र आते हैं यूँ अग़्यार[४] तेरे गिर्द उल्लू से
बशर[५] को जानवर जैसे बना रखते हैं जादू से
इस परी रुख़सार पर फबती कही है हूर की
सच है क्या है सूझती है क्या ही मुझको दूर की
तुझको 'नासिख़' है अबस[६] इसका ख़्याल
वो रक़ीब-ए-मू स्या[७] क्या मादा है
क्या ही मुँह करता है टेढ़ा देखता है जब मुझे
कर दे या रब रू-ए-दुश्मन[८] लक़्वे का आज़ार-ए-क़ज[९]

उदाहरणों की संख्या बढ़ाई जा सकती है लेकिन किसी ऐसे शे'र को खोज पाना कठिन है जो अपनी व्यंग्य-क्षमता के कारण मन को छू सके।

(५)

वास्तव में नासिख़ को पढ़ना एक शायर के अध्ययन से कहीं ज़्यादा एक शैली, एक आंदोलन और एक साहित्यिक परिवेश के अध्ययन की हैसियत रखता है जिसने समग्र रूप से उर्दू भाषा एवं साहित्य की परम्परा को किसी अन्य आंदोलन की तुलना में सबसे ज़्यादा प्रभावित किया। नासिख़ के नेतृत्व में उर्दू भाषा में अनेक दूरगामी परिवर्तन हुए। भारत का कोई अंचल और कोई साहित्यिक केन्द्र ऐसा न था

---

१. धर्म पर न चलने वाला उपदेशक २. दातौन का अगला हिस्सा ३. पगड़ी का ऊपरी हिस्सा
४. ग़ैर का बहुवचन ५. मनुष्य ६. व्यर्थ ही ७. काले मुंह वाला रकीब ८. पक्षाघात का रोग जिससे अंग विशेष टेढ़ा हो जाता है, लक़्वा। ९. इसमें शत्रु के अशुभ की कामना की गई है।

दूरगामी परिवर्तन हुए। भारत का कोई अंचल और कोई साहित्यिक केन्द्र ऐसा न था जहाँ नासिख़ का प्रभाव न पहुँचा हो। मानाकि आज नासिख़ का युग समाप्त हो चुका है लेकिन आज भी उनका प्रभाव बदस्तूर देखा जा सकता है। ये प्रभाव एक व्यक्ति नासिख़ के नहीं हैं बल्कि नासिख़ की उस साहित्यिक विरासत और रिवायत के हैं जो उर्दू भाषा के संस्कार और इतिहास का अंग बन चुकी है। नासिख़ से बड़े शायर उर्दू में बहुत गुज़रे हैं लेकिन निजी तौर पर उन जैसा प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला कोई दूसरा शायर नहीं पैदा हुआ है। 'आतिश', नासिख़ के समकालीन थे और बहैसियत शायर के उनसे बेहतर थे लेकिन समग्र प्रभाव में नासिख़ की बराबरी नहीं कर सकते थे। खुद आतिश के शागिर्द आतिश से ज्यादा नासिख़ के मालूम होते हैं। उर्दू की अदबी दुनिया में अगर किसी शायर को हुक्मरानी का मौका मिला है तो वह नासिख़ ही थे। उनके साहित्यिक फ़ैसले सर्वमान्य कानून की हैसियत रखते थे। 'मीर' न अपने फ़रमाये हुए का मुस्तनद (प्रामाणिक) कहा है लेकिन सच्चाई यह है कि मीर के युग में उनका फ़रमाया हुआ उतना मुस्तनद हर्गिज़ नहीं समझा जाता था जितना नासिख़ का फ़रमाया हुआ। उनके युग में नासिख़ भाषा के नियम बनाने और उन पर आचरण कराने में एक जैसा अधिकार रखते थे । इसीलिए उनकी शायरी चाहे दब गई हो लेकिन उर्दू भाषा और शायरी को बड़ा लाभ पहुँचा। उर्दू में दिनों तक भाषा की अनगढ़ता और शे'र के नियमों में अस्तरीयता बनी रही थी। नासिख़ की वजह से यह दूर हुई। भाषा एवं साहित्य के नियम सरकारी क़ानून की तरह नहीं बनते हैं। इनके साथ एक व्यक्ति का नाम जोड़ दिया जाता है। नासिख़ ने भाषाविदों की ओर से उर्दू का प्रामाणिक व्याकरण बनाया। शायरों की ओर से शे'र के नियम निश्चित किये और अतीत के अनुभवों से लाभ उठाकर शायरी और क्लासिकी मिज़ाज रखने वाले शायर आज भी इसका अनुसरण कर रहे हैं। भाषा के नियामक के रूप में उनके महत्त्व का पता इस बात से चलता है कि उर्दू के इतिहास में किसी शायर के नाम से वैयक्तिक तौर पर कोई स्कूल नहीं जाना जाता है। हमारे यहाँ मीर स्कूल, सौदा स्कूल, ज़ौक स्कूल और ग़ालिब स्कूल की संज्ञाएँ प्रचलित नहीं है। लेकिन 'नासिख़ स्कूल' न केवल एक भाषिक प्रयाग है बल्कि एक वास्तविकता है।

नासिख़ की शे'री विशेषताओं, कलासम्बन्धी विचारों और उनके ऐतिहासिक महत्त्व को समझने में उनके उपनाम से मदद ली जा सकती है। उनका उपनाम एक

सांकेतिक और प्रतीकात्मक महत्व रखता है। यदि उन्होंने सचेत और सुचिंतित रूप से इस उपनाम को स्वीकार किया है तो इसका मतलब यह हुआ कि उन्होंने अपने लेखकीय जीवन के आरम्भ में ही उर्दू भाषा और साहित्य में छाई हुई रुग्ण प्रवृतियों को पहले ही समझ लिया था। कहने को बड़े-बड़े शायर पैदा हो चुके थे लेकिन साहित्य की स्थिति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं दिखाई दे रहा था। उन्होंने अपने इरादों, मंसूबों और महत्त्वाकांक्षाओं को व्यंजित करने वाला 'नासिख़' उपनाम रखा और उम्र भर जीवन एवं शायरी में स्वयं को इस उपनाम के योग्य बनाये रखने में कोई उदासीनता नहीं बरती। वे इस संज्ञा की चरितार्थता को लेकर बहुत सचेत रहे। वे उन्नीसवीं सदी भर नासिख़ रहे और सच्चाई यह है कि उन्होंने थोड़ा ही सही लेकिन हर बड़े शायर पर ख़त-ए-नस्ख़[1] खींचा, अर्थात् एक व्यक्ति ने सैंकड़ों शायरों के बनाये इतिहास के काफ़ी बड़े भाग को रद्द कर दिया। बीसवीं सदी में अब उनके रद्द होने की नौबत आई। लेकिन उनकी जितनी भी उपेक्षा हुई वह बदलते हुए समाजिक परिदृश्य का आवश्यक परिणाम है। बीसवीं सदी में किसी व्यक्ति या शायर की कोई निजी एवं विशिष्ट उपलब्धि नहीं रही है। परिवर्तन की प्रक्रिया हर दौर में जारी रहती है लेकिन समूची बीसवीं सदी ने मिलकर साहित्य में इतने परिवर्तन-संशोधन नहीं किये जितने कि उन्नीसवीं शताब्दी में अकेले नासिख़ ने कर दिये हैं। यहाँ परम्परा से प्राप्त शब्दों से बचाव की बात नहीं की जा रही।

नासिख़ के संशोधनों को प्रायः भाषा तक सीमित समझा जाता है लेकिन उन्होंने ग़ज़ल में भी सुधार की प्रक्रिया जारी रखी। पिछले पृष्ठों में ग़ज़ल के विकास के सिलसिले में इनका ज़िक्र किया जा चुका है। ग़ज़ल के विषय-क्षेत्र को व्यापक बनाना नासिख़ का बहुत बड़ा योगदान है। ग़ालिब जब ग़जल के सीमित दायरे को लेकर चिंतित थे, उससे पहले ही नासिख़ ग़ज़ल को एक संमदर न सही एक दरिया में तबदील कर चुके थे। आज जदीद[2] ग़ज़ल और जदीदी ग़ज़लगो के सामने व्यापकता की समस्या है तो नासिख़ अपने युग की परिस्थितियों के अनुसार इसकी नींव डाल चुके हैं। अब अपेक्षित व्यापकता लाने के लिए समकालीन शायरों के पास समसामयिक दृष्टि का होना भी ज़रूरी है। इस सदी में ग़ज़ल विधा के ख़िलाफ़ बड़ी प्रतिक्रियाएँ हुई हैं। और ग़ज़ल की जान जाते-जाते बची है। ग़ज़ल की जान बचाने के जो प्रयास किये गये हैं उनका एक सिरा नासिख़ और उनके समकालीन शायरों के

१. अरबी की एक प्रसिद्ध लिपि, निरस्त या रदद् करना २. आधुनिक, नई

सर्जनात्मक संघर्ष से भी जुड़ा है। वे उन्नीसवीं सदी में ही इसकी पृष्ठभूमि तैयार कर चुके थे। उन्होंने ग़ज़ल में वह आंतरिक शक्ति उत्पन्न कर दी थी जिसके कारण ग़ज़ल विधा अभी तक नष्ट होने से बची हुई है। यह सही है एक ग़ज़ल गो की हैसियत से नासिख़ बड़ा पद नहीं पा सके वह पद जो कि उनके अनेक समकालीन और परवर्ती शायरों को सहज ही प्राप्त हो गया। लेकिन इससे नासिख़ का महत्त्व नहीं घट जाता है। क्योंकि कवि-आचार्यों का आमतौर पर यही परिणाम होता है। मेथ्यू आर्नल्ड को बड़ा कवि नहीं स्वीकार किया गया। सर सैयद अपने-आप में कोई बड़े साहित्यकार न थे। 'हाली' बहरहाल दूसरे दर्जे के शायर थे अगर 'मुक़द्दमा' न लिखते तो शायद अव्वल दर्जे के शायर हो जाते। बहरहाल ये सब बड़े आचार्य थे।

उन्नीसवीं सदी तक उर्दू शायरी में चाहे वह लखनऊ की हो या दिल्ली की, अश्लील और नीति-विरोधी विषयों की भरमार रही है। उर्दू के हर शायर के यहाँ प्रचुर मात्रा में ऐसे शे'र मिल जायेंगे जिन्हें एक शालीन लोगों की सभा के बीच नहीं पढ़ा जा सकता। नासिख़ के युग में भी इस तरह के शे'रों की जो भरमार है, वह विद्वानों से छुपी हुई नहीं है। इस युग में नीति और शालीनता विरोधी विषयों को ग़ज़ल में निषिद्ध नहीं समझा जाता था बल्कि यह तो एक सर्वमान्य परम्परा थी। प्रेमिका के नख-शिख वर्णन में कामुकतापूर्ण तथा मुआमलाबंदी[1] में लोक-मर्यादा के स्तर से गिरे हुए शे'र उस्तादों के यहाँ भी मिल जाते हैं। ऐसे माहौल में इस तुच्छ प्रवृत्ति के विरुद्ध आवाज़ उठाना सम्भव नहीं था। नासिख़ ने इस महान कर्तव्य का निर्वाह किया । अपने साहित्यिक प्रभाव और अधिकार से लाभ उठाकर ग़ज़ल को इस माहौल से बाहर निकालने का हर सम्भव प्रयास किया। नासिख़ के प्रतिद्वन्द्वी और समकालीन 'आतिश' की शायरी को पढ़कर इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि नासिख़ ने जो काम किया, वह कितना महत्वपूर्ण था। इसलिए कि तसव्वुफ़ के बावजूद उनके यहाँ भी भौण्डे शे'रों की कमी नहीं है। इस युग के तमाम बड़े शायरों की तुलना में जिस रूप में नासिख़ के यहाँ अश्लीलता, फूहड़पन, ऐंद्रिकता, तुच्छता और मुआमलाबंदी से बचाव किया गया है इससे नासिख़ की साधना का पता चलता है। उनके पूरे कुल्लियात में लोक-मर्यादा के विरुद्ध जाने वाले विषय छिटपुट रूप में दिखाई देंगे जिससे उनके समग्र नैतिक दृष्टिकोण पर कोई विशेष अंतर नहीं पडता हे । हालांकि नासिख़ के इन प्रयासों से ग़ज़ल का रंग बिल्कुल

---

१. उर्दू पद्य की एक विधा जिसमें प्रेमी-प्रेमिका की परस्पर शिकायतों का बयान किया जाता है।

बदल नहीं गया बल्कि स्वयं नासिख़ और आतिश के शागिर्दों में अश्लीलता और फूहड़ मुआमालाबंदी की प्रवृत्ति किसी हद तक देखी जा सकती है। साहित्यिक परिवर्तन के प्रभाव बहुत देर में दिखाई देते हैं। नासिख़ ने एक स्वस्थ परम्परा एवं दृष्टिकोण की नींव रख दी थी जिसने धीरे-धीरे ग़ज़ल को अपेक्षाकृत अधिक नैतिक और सुसंस्कृत बना दिया।

नासिख़ उन शायरों में से हैं जिनको लेकर सतही निर्णय लिये जाते रहे हैं। पिछले पृष्ठों में इन निर्णयों की ओर संकेत किया गया है। उनकी कला की कुछ विशेषताएँ अध्येताओं के मस्तिष्क पर इस क़दर छा जाती है कि दूसरी चीज़ों पर सोचने का अवसर ही नहीं मिल पाता। प्रस्तुत अध्ययन में भी प्रायः इन्हीं विशेषताओं की चर्चा की गई है। बीच-बीच में दूसरे पक्षों की ओर भी संकेत कर दिया गया है। वे ग़ज़ल के उस धीमे लहजे की नुमायंदगी नहीं करते हैं जिसकी दो-ढाई सौ साल से हमें आदत है लेकिन जीवन के प्रतिनिधित्व का नाम यदि कला है तो हर वह कलाकार जो जीवन के किसी न किसी पक्ष का प्रतिनिधित्व करता हो, सम्मान का पात्र होगा। न तो समूचा जीवन हर्षमय है, न विषादमय। सुख और दुःख के उच्चावच मार्ग का नाम जीवन है। जीवन का दर्शन तो यह है कि निर्माण में नाश के चिह्न निहित रहते हैं और नाश में नये निर्माण का सम्भावनाएँ छुपी रहती हैं। जीवन मात्र काला है न सफ़ेद, हर्ष है न विषाद, सूर्य की प्रचंडता है न तारों की शीतलता, न प्रेमोन्माद है न सौंदर्य, न सहजता है न चातुर्य-बल्कि एक इंद्रधनुष है जिसमें वातावरण के परिवर्तन के साथ सभी रंग दिखाई देते हैं। रंगों की इस विविधता के रहते हुए यह बात सम्भव ही नहीं है कि किसी दौर के जीवन-यथार्थ के सम्पूर्ण पक्षों को कोई एक शायर या कलाकार अभिव्यक्ति दे सके। अतः एक रचनाकार जीवन की तमाम विविधताओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। बड़ा रचनाकार वही है जो अपनी रचनाओं में जीवन के जिस पक्ष विशेष को चुने, उसे पूरी गहराई और व्यापकता के साथ चित्रित कर सके। जिस प्रकार समाज सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है उसी प्रकार बड़े कलाकार अपने सामूहिक प्रयासों द्वारा जीवन को समग्रता में प्रस्तुत करते हैं। एक अकेले शायर की कला समग्र जीवन का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकती है। यदि हम मीर और ग़ालिब ही की मदद से उस युग के जीवन का अवलोकन करना चाहें तो हमारा अध्ययन स्तरीय तो हो सकता है लेकिन अधूरा फिर भी रह जायेगा। हमारे अध्ययन में एक शून्य और अंतराल रह

जायेगा जिसे भरने के लिए सौदा, इंशा, नासिख़, जुरअत, आतिश, शाह नसीर और ज़ौक आदि को शामिल करना पड़ेगा।

नासिख़ की भूमिका उस शून्य को भरने में, जो मीर और ग़ालिब आदि से छूट गया है, बहुत महत्त्वपूर्ण है। वे सचमुच में मीर और ग़ालिब के बीच के शायर हैं। दोनों की ही पूर्ति करते हैं और दोनों को ही समझने में मदद पहुँचते है। वे उस उम्मीदों से भरे हुए माहौल के शायर हैं जिसमें ग़ालिब को साँस लेने का मौक़ा बहुत कम मिला। वे उन कामयाबियों से भरे हुए दौर की पैदावार हैं जिसमें मीर नाकामियों से काम लेते रहे। वे उजड़ती हुई दिल्ली के नहीं बल्कि वैभवशाली लखनऊ के शायर हैं। साहित्यकार और राजनेताओं के उसी वर्ग से उनका सम्बन्ध था जिसने लखनऊ के बहुमुखी विकास में हाथ बँटाया था। वे उन सर्जकों में से थे जिन्हें लखनऊ का शिल्पी कहना चाहिए। इसीलिए शिल्पकारी, हर्षोल्लास की तरंगें और आशावाद उनकी शायरी में मौजूद है। अभिलाषा के बजाय उंमग, भविष्य की चिंता के बजाय वर्तमान का आनंद नासिख़ ही नहीं उनके दौर के प्रत्येक शायर की रचनाओं में व्यक्त हुआ है। इन प्रवृत्तियों को तुच्छ और हेय नहीं कहा जा सकता। न ही सम्पूर्ण अध्ययन में इनकी उपेक्षा ही की जा सकती है। नासिख़ क्योंकि इस समुदाय के मार्गदर्शक थे इसलिए ऐतिहासिक आग्रहों के अनुसार उनके अध्ययन का विशेष महत्त्व है। यह सही है कि वे फूल और शबनम के शायर न थे बल्कि पत्थर और लोहे के शायर थे लेकिन ये तत्त्व भी तो जीवन की आवश्यकताओं में शामिल है, इनके अभाव में भी तो जीवन अधूरा है।

शिल्पकारी, शब्द-जाल, अतिशयोक्ति, ख़यालबंदी और हवाई जादूगरी को उनकी शायरी की अंतिम उपलब्धि समझना एक बड़ी भूल होगी। यह भूल वही लोग कर सकते है जो नारा बुलंद करने वालों के पीछे बे सोचे-समझे चल देते हैं। उनके बारे में यह कहना कि उन्होंने जीवन भर में सिर्फ़ ग्यारह शे'र कहे हैं या पूरे जीवन मे चंद जानदार शे'र भी न कह सके, मात्र एक अतिशयोक्ति है और वेसी ही अतिशयोक्ति जिसके लिए नासिख़ की आलोचना की जाती है। यह मात्र शब्द-जाल है, वैसा ही शब्द-जाल जिसके लिए नासिख़ पर प्रश्नचिह्न लगाया जाता है। वास्तवविकता यह है कि उनके दीवान में ऐसे बहुत-से शे'र मिलते हैं जिन्हें सुनकर मीर और ग़ालिब भी खुले दिल से दाद दें। यह सही है कि उनका मूल स्वर वही है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। लेकिन उनकी ग़ज़लों में ऐसे शे'र बहुत आसानी के साथ मिल जाते हैं जिनमें भावों की गहराई और विश्वसनीयता है तथा जो ग़ज़ल की मूल आत्मा को अपने

भीतर समेटे हुए हैं। उनकी संख्या इतनी कम नहीं है कि उन्हें सिर्फ़ एक संयोग कह दिया जाये। अलंकारों की मूसलाधार वर्षा और शाब्दिक चम्त्कार के गरजते हुए बादलों के बीच संवेदना के ताप से युक्त बिजली की कौंध भी दिखाई दे जाती है। इस तरह के बहुत से शे'र मिसाल के तौर पर पहले ही दिये जा चुके है। इस बहस के समापन पर कुछ शे'र और द्रष्टव्य हैं :

वो नहीं भूलता जहाँ जाउँ
हाय मैं क्या करूँ कहाँ जाऊँ
दूर वो मैं हूँ मरने के नज़दीक
हाय क्यूँ कर मैं नातवाँ[1] जाऊँ
हो न गुलगश्त[2] में कहीं वो गुल
जी में है आज बोस्ताँ[3] जाऊँ
ख़ाक उड़ाता हुआ हर इक बन में
सूरत-ए-गर्द-ए-कारवाँ[4] जाऊं

जान हम तुझ पे दिया करते हैं
नाम तेरा ही लिया करते हैं
चाक करने के लिए ऐ नासेह[5]
हम गरेबान सिया करते हैं
साग़र-ए-चश्म[6] से हम बादापरस्त[7]
मय-ए-दीदार पिया करते हैं
वो गुल तू है कि गुज़रा बाग़ में जिस-जिस ख़याबाँ[8] से
तो आवाज़-ए-शिकस्त-ए-रंग से गुल ने पुकारा है

इश्क़ को किसके दिल से लाग नही
कौन-सा घर है जिसमें आग नहीं
जो तिरे इश्क़ में हलाक़ नहीं
ज़िंदगानी में लुत्फ़-ए-ख़ाक नहीं
शब-ए-फ़ुर्क़त[9] में शमअ का क्या ज़िक्र

१. कमज़ोर २. सैर का स्थान, क्रीडास्थल ३. बाग़, उपवन ४. कारवाँ की धूल की तरह
५. उपदेशक ६. आँखों का प्याला ७. शराब पीने वाला, मद्यप ८. क्यारी ९. विरह की रात

ज़िंदगी का चिराग़ भी गुल है
सुनसान मिस्ल-ए-वादी-ए-ग़ुर्बत है लखनऊ
शायद कि 'नासिख़' आज वतन से निकल गया

इन शे'रों में वह स्फूर्ति, नवीनता और प्रभाव-क्षमता है जिसकी अपेक्षा हम किसी बड़े शायर से कर सकते हैं। इन शे'रों में सहजता के साथ-साथ वह स्वाभाविक कौशल भी मिलता है जो बड़े शायरों की मुख्य विशेषता है। अपनी अर्थवत्ता और शिल्प-सौंदर्य के कारण ये शे'र ग़ज़ल के कठोर से कठोर चयन में भी स्थान पाने के अधिकारी हैं।

सहायक पुस्तकें

१.	आब-ए-हयात	मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद
२.	आब-ए-बक़ा	अब्दुल रऊफ़ इशरत
३.	बहार-ए-बेख़िज़ाँ	अहमद हुसैन सहर
४.	तारीख़-ए-अवध	नज्मुलग़नी
५.	जल्वा-ए-ख़िज्र	सफ़ीर बिलगरामी
६.	दास्तान-ए-तारीखे़-अवध	हामिद हुसैन क़ादरी
७.	रियाजुलफ़स्हाए	मुसहफ़ी
८.	सनान-ए-दिलख़राश	मुनीर शिकोहाबादी
९.	कै़सरुलतवारीख़	मुहम्मद मीर ज़ायर
१०.	काशिफ़ुलहक़ायक़	इम्दाद इमाम असर
११.	कुल्लियात-ए-रश्क	मीर अली औसत 'रश्क'
१२.	कुल्लियात नस्र ग़ालिब	असद उल्लाह ख़ाँ 'ग़ालिब'
१३.	कुल्लियात-ए-नासिख़	नासिख़ (पहला संस्करण)
१४.	नासिख़ : तजज़िया व तक़्दीर	शबीहुलहसन
१५.	रिसाला अदीब	१९१२
१६.	रिसाला उर्दू-ए-मुअल्ला (हसरत मोहानी)	१९०३

A Calendars of Middle East Countries by V.V. Tsybulsky, USSR